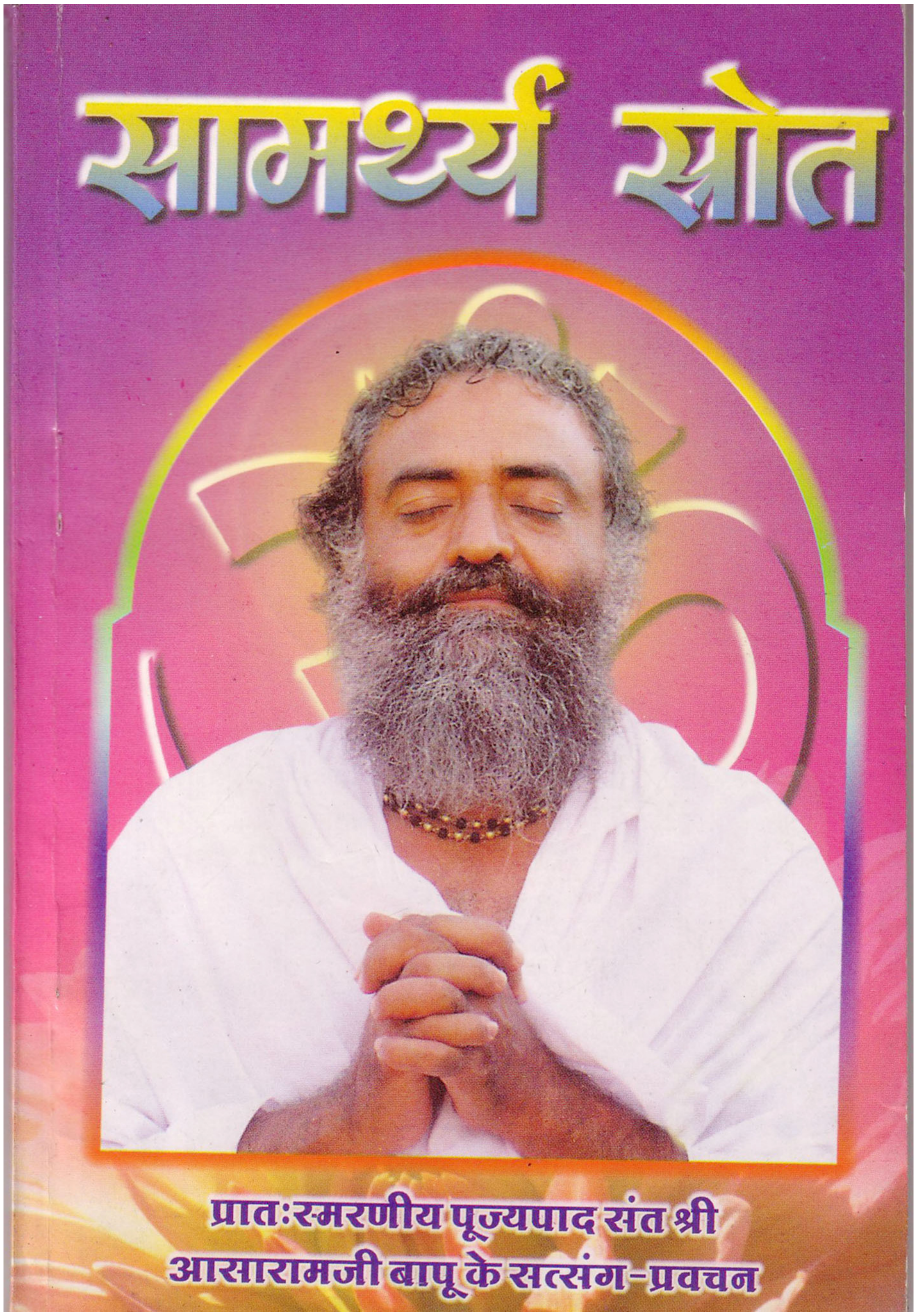


अनुक्रम....

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद संत श्री आसारामजी बापू के सत्संग-प्रवचन

सामर्थ्य स्रोत

निवेदन

पूज्य बापू की सहज बोलचाल में अनुभवसंपन्न गीताज्ञान की माधुर्यता इस प्रकार निखर आती है कि विद्वान इसमें तत्त्व-अमृत निहार सकते हैं, साधक काम-संकल्प के काँटों को चुनकर फेंक सकते हैं। संसारी जीवन जीने वाले सत्य की साधना पर अग्रसर होने को उत्सुक हो सकते हैं।

समिति ने पूज्य बापू की सहज बोलचाल की धारा को संग्रहीत करके पुस्तक के रूप में आपके करकमलों तक पहुँचाने का बालयत्न किया है। गुणग्राही दृष्टि से इसका लाभ उठाने की कृपा करें। सनातन धर्म के उच्च शिखरों के अनुभव संपन्न इन संत की अमृतवाणी औरों तक पहुँचाकर पुण्य के भागी बनें।

विनीत,

श्री योग वेदान्त सेवा समिति

अमदावाद आश्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

सामर्थ्य स्रोत

रावण के जमाने में एक बड़े सदाचारी, शील को धारण करने वाले राजा चक्ववेण हुए। बड़ा सादा जीवन था उनका। राजपाट होते हुए भी योगी का जीवन जीते थे। प्रजा से जो कर आता था, उसको प्रजा का खून-सा समझते थे। उसका उपयोग व्यक्तिगत सुख, ऐश्वर्य, स्वार्थ या विलास में बिल्कुल नहीं होने देते थे। राजमहल के पीछे खुली जमीन थी, उसमें खेती करके अपना गुजारा कर लेते थे। हल जोतने के लिए बैल कहाँ से लायें ? खजाना तो राज्य का था, अपना नहीं था। उसमें से खर्च नहीं करना चाहिए। .....तो राजा स्वयं बैल की जगह जुत जाते थे और उनकी पत्नी किसान की जगह। इस प्रकार पति पत्नी खेती करते और जो फसल होती

उससे गुजारा करते। कपास बो देते। फिर घर में ताना-बुनी करके कपड़े बना लेते, खद्दर से भी मोटे।

चक्ववेण राजा के राज्य में किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती थी, अकाल नहीं पड़ता था, प्रजा में ईमानदारी थी, सुख-शान्ति थी। प्रजा अपने राजा-रानी को साक्षात् शिव-पार्वती का अवतार मानती थी। पर्व त्यौहार के दिनों में नगर के लोग इनके दर्शन करने आते थे।

पर्व के दिन थे। कुछ धनाढ्य महिलायें सज धजकर राजमहल में गईं। रानी से मिलीं। रानी के वस्त्र तो सादे, घर की ताना-बुनी करके बनाये हुए मोटे-मोटे। अंग पर कोई हीरे-जवाहरात, सुवर्ण-अलंकार आदि कुछ नहीं। कीमती वस्त्र-आभूषणों से, सुवर्ण-अलंकारों से सजीधजी बड़े घराने की महिलाएँ कहने लगीं- "अरे रानी साहिबा ! आप तो हमारी लक्ष्मी जी हैं। हमारे राज्य की महारानी पर्व के दिनों में ऐसे कपड़े पहनें ? हमें बड़ा दुःख होता है। आप इतनी महान विभूति की धर्मपत्नी ! .....और इतने सादे, चिथड़े जैसे कपड़े ! ऐसे कपड़े तो हम नौकरानी को भी पहनने नहीं देते। आप ऐसा जीवन बिताती हो ? हमें तो आपकी जिन्दगी पर बहुत दुःख होता है।"

आदमी जैसा सुनता है, देर-सबेर उसका प्रभाव चित्त पर पड़ता ही है। अगर सावधान न रहे तो कुसंग का रंग लग ही जाता है। हल्के संग का रंग जल्दी लगता है। अतः सावधान रहें। कुसंग सत्पथ से विचलित कर देता है।

दूसरी महिला ने कहाः "देखो जी ! हमारे ये हीरे कैसे चमक रहे हैं ! .... और हम तो आपकी प्रजा हैं। आप हमारी रानी साहिबा हैं। आपके पास तो हमसे भी ज्यादा कीमती वस्त्रालंकार होने चाहिए ?"

तीसरी ने अपनी अंगूठी दिखायी। चौथी ने अपने जेवर दिखाये। चक्ववेण की पत्नी तो एक और उसको बहकाने वाली अनेक। उनके श्वासोच्छ्वास, उनके विलासी वायब्रेशन से रानी हिल गई। वे स्त्रियाँ तो चली गईं लेकिन चक्ववेण के घर में आग लगा गई।

रानी ने बाल खोल दिये और स्त्रीचरित्र में उतर आई। राजा राज-दरबार से लौटे। देखा तो देवीजी का रूद्र स्वरूप ! पूछाः

"क्या बात है देवी ?"

"आप मुझे मूर्ख बना रहे हैं। मैं आपकी रानी कैसी ? आप ऐसे महान् सम्राट और मैं आप जैसे सम्राट की पत्नी ऐसी दरिद्र ? मेरे ये हाल ?"

"तुझे क्या चाहिए ?"

"पहले वचन दो।"

"हाँ, वचन देता हूँ। माँग।"

"सुवर्ण-अलंकार, हीरे जवाहरात, कीमती वस्त्र-आभूषण..... जैसे महारानियों के पास होते हैं, वैसी ही मेरी व्यवस्था होनी चाहिए।"

राजा वस्तुस्थिति से ज्ञात हुए। वे समझ गये किः "वस्त्रालंकार और फैशन की गुलाम महिलाओं ने इसमें अपनी विलासिता का कचरा भर दिया है। अपना अन्तःकरण सजाने के बजाय हाड़-मांस को सजानेवाली अल्पमति माइयों ने इसे प्रभावित कर दिया है। मेरा उपदेश मानेगी नहीं।

इसके लिये हीरे-जवाहरात, गहने-कपड़े कहाँ से लाऊँ ? राज्य का खजाना तो प्रजा का खून है। प्रजा के खून का शोषण करके, स्त्री का गुलाम होकर, उससे उसको गहने पहनाऊँ ? इतना नालायक मुझे होना नहीं है। प्रजा का शोषण करके औरत को आभूषण दूँ ? क्या करूँ ? धन कहाँ से लाऊँ ? नीति क्या कहती है ?

नीति कहती है कि अपने से जो बलवान् हो, धनवान हो और दुष्ट हो तो उसका धन ले लेने में कोई पाप नहीं लगता। धन तो मुझे चाहिए। नीतियुक्त धन होना चाहिए।'

राजा सोचने लगेः 'धनवान और दुष्ट लोग तो मेरे राज्य में भी होंगे लेकिन वे मुझसे बलवान नहीं हैं। वे मेरे राज्य के आश्रित हैं। दुर्बल का धन छीनना ठीक नहीं।"

विचार करते-करते अड़ोस-पड़ोस के राजाओं पर नजर गई। वे धनवान तो होंगे, बेईमान भी होंगे लेकिन बलवान भी नहीं थे। आखिर याद आया कि रावण ऐसा है। धनवान भी है, बलवान भी है और दुष्ट भी हो गया है। उसका धन लेना नीतियुक्त है।

अपने से बलवान् और उसका धन ? याचना करके नहीं, माँगकर नहीं, उधार नहीं, दान नहीं, चोरी करके नहीं, युक्ति से और हुक्म से लेना है।

राजा ने एक चतुर वजीर को बुलाया और कहाः "जाकर राजा रावण को कह दो कि दो मन सोना दे दे। दान-धर्म के रूप में नहीं, ऋण के रूप में नहीं। राजा चक्ववेण का हुक्म है कि 'कर' के रूप में दो मन सोना दे दे।"

वजीर गया रावण की सभा में और बोलाः "लंकेश ! राजा चक्ववेण का आदेश है, ध्यान से सुनो।"

रावणः "देव, दानव, मानव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि सब पर लंकापति रावण का आदेश चलता है और उस रावण पर राजा चक्ववेण का आदेश ! हूँऽऽऽ...." रावण गरज उठा।

विभीषण आदि ने कहाः "राजन ! कुछ भी हो, वह सन्देशवाहक है, दूत है। उसकी बात सुननी चाहिए।"

रावणः "हाँ, क्या बोलते हो ?" रावण ने स्वीकृति दी।

वजीरः "दान के रूप में नहीं, ऋण के रूप में नहीं, लेकिन राजा चक्ववेण का आदेश है कि 'कर' के रूप में दो मन सोना दे दो, नहीं तो ठीक नहीं रहेगा। लंका का राज्य खतरे में पड़ जायेगा।" चक्ववेण के वजीर ने अपने स्वामी का आदेश सुना दिया।

रावणः "अरे मच्छर ! इस रावण से बड़े-बड़े चक्रवर्ती डरते हैं और वह जरा सा-चक्ववेण राजा ! मुझ पर 'कर' ? हूँऽऽऽ..... अरे ! इसको बाँध दो, कैद में डाल दो।" रावण आगबबूला हो गया।

सबने सलाह दीः "महाराज ! यह तो बेचारा अनुचर है, चिट्ठी का चाकर। इसको कैद करना नीति के विरूद्ध है। आप सोना न दें, कोई हर्ज नहीं किन्तु इसको छोड़ ही दें। हमने राजा चक्ववेण का नाम सुना है। वह बड़ा शीलसम्पन्न राजा है। बड़ा सज्जन, सदाचारी है। उसके पास योग-सामर्थ्य, सूक्ष्म जगत का सामर्थ्य बहुत है।"

"तो रावण क्या कम है ?"

"लंकेश ! आप भी कम नही है। लेकिन वह राजा शील का पालन करता है।"

"सबकी क्या राय है ?" पूरे मंत्रीमण्डल पर रावण ने नजर डालते हुए पूछा।

"या तो दो मन सोना दे दें......"

"मैं सोना दे दूँ ?" सलाहकारों की बात बीच से ही काटते हुए रावण गरज उठा। "याचक भीख माँगने आये तो दे दूँ लेकिन मेरे ऊपर 'कर' ? मेरे ऊपर आदेश ? यह नहीं होगा।" सिर धुनकर रावण बोला।

"अच्छा, तो दूत को बाहर निकाल दो।"

चक्ववेण के वजीर को बाहर निकाल दिया गया। रावण महल में गया तो वार्त्तालाप करता हुआ वह मन्दोदरी से बोलाः

"प्रिये ! दुनियाँ में ऐसे मूर्ख भी राज्य करते हैं। देव, दानव, मानव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि सबके सब जिससे भय खाते हैं, उस लंकापति रावण को किसी मूर्ख चक्ववेण ने आदेश भेज दिया कि 'कर' के रूप में दो मन सोना दे दो। 'अरे मन्दोदरी ! कैसे कैसे पागल राजा हैं दुनियाँ में !"

"नाथ ! चक्ववेण राजा बड़े सदाचारी आदमी हैं। शीलवान् नरेश हैं। आपने क्या किया ? दो मन सोना नहीं भेजा उनको ?" मन्दोदरी विनीत भाव से बोली।

"क्या 'कर' के रूप में सोना दे दूँ ? लंकेश से ऊँचा वह होगा ?" रावण का क्रोध भभक उठा।

"स्वामी ! दे देते तो अच्छा होता। उनका राज्य भले छोटा है, आपके पास विशाल साम्राज्य है, बाह्य शक्तियाँ हैं, लेकिन उनके पास ईश्वरीय शक्तियाँ हैं, आत्म-विश्रान्ति से प्राप्त अदभुत सामर्थ्य है।"

"अरे मूर्ख स्त्री ! रावण के साथ रहकर भी रावण का सामर्थ्य समझने की अक्ल नहीं आई? पागल कहीं की !" रावण ने मन्दोदरी की बात उड़ा दी।

कहानी कहती है कि दूसरे दिन सुबह मन्दोदरी ने रावण को छोटा-सा चमत्कार दिखाया। रोज सुबह कबूतरों को ज्वार के दाने डालने के लिए राजमहल की छत पर जाती थी। उस दिन रावण को भी साथ ले गई और बोलीः

"महाराज ! देव, दानव, मानव, यक्ष, गंधर्व, किन्नर आदि सब आपकी आज्ञा मानते हैं तो अपने प्रभाव का आज जरा अनुभव कर लो। देखो, इन पक्षियों पर आपका कितना प्रभाव है ?"

पक्षियों को दाने डालकर मन्दोदरी उन्हें कहने लगीः

"हे विहंग ! राजा लंकेश की दुहाई है कि जो दाने खायेगा, उसकी गरदन झुक जायेगी और वह मर जायेगा।" सब पक्षी दाने खाते रहे। उन्हें कुछ नहीं हुआ। मन्दोदरी बोलीः

"प्राणेश ! आपकी दुहाई का प्रभाव पक्षियों पर कुछ नहीं पड़ा।"

"मूर्ख औरत ! पक्षियों को क्या पता कि मैं लंकेश हूँ ?"

"स्वामी ! ऐसा नहीं है। अब देखिए।" फिर से दाने डालकर रानी पक्षियों से बोलीः "राजा चक्ववेण की दुहाई है। दाने चुगने बन्द कर दो। जो दाने चुगेगा, राजा चक्ववेण की दुहाई से उसकी गरदन टेढ़ी हो जाएगी और वह मर जाएगा।"

पक्षियों ने दाना चुगना बन्द कर दिया। पाषाण की मूर्तिवत् वे स्थिर हो गये। एक बहरे कबूतर ने सुना नहीं था। वह दाने चुगता रहा तो उसकी गरदन टेढ़ी हो गई, वह मर गया। रावण देखता ही रह गया ! अपनी स्त्री के द्वारा अपने ही सामर्थ्य की अवहेलना सह न सका। उसको डाँटते हुए वह कहने लगा:

"इसमें तेरा कोई स्त्रीचरित्र होगा। हम ऐसे अन्धविश्वास को नहीं मानते। जिसके घर में स्वयं वरूणदेव पानी भर रहे हैं, पवनदेव पंखा झल रहे हैं, अग्निदेव रसोई पका रहे हैं, ग्रह-नक्षत्र चौकी कर रहे हैं उस महाबली त्रिभुवन के विजेता रावण को तू क्या सिखा रही है ?" क्रुद्ध होकर रावण वहाँ से चल दिया।

इधर, राजा चक्ववेण के मंत्री ने समुद्र के किनारे एक नकली लंका की रचना की। काजल के समान अत्यन्त महीन मिट्टी को समुद्र के जल में घोलकर रबड़ी की तरह बना लिया तथा तट की जगह को चौरस बनाकर उस पर उस मिट्टी से एक छोटे आकार में लंका नगरी की रचना की। घुली हुई मिट्टी की बूँदों को टपका-टपकाकर उसी से लंका के परकोटे, बुर्ज और दरवाजों आदि की रचना की। परकोटों के चारों ओर कंगूरे भी काटे एवं उस परकोटे के भीतर लंका की राजधानी और नगर के प्रसिद्ध बड़े-बड़े मकानों को भी छोटे आकार में रचना करके दिखाया। यह सब करने के बाद वह पुनः रावण की सभा में गया। उसे देखकर रावण चौंक उठा और बोलाः

"क्यों जी ! तुम फिर यहाँ किसलिये आये हो ?"

"मैं आपको एक कौतूहल दिखलाना चाहता हूँ।"

"क्या कौतूहल दिखायेगा रे ? अभी-अभी एक कौतूहल मन्दोदरी ने मुझे दिखाया है। सब मूर्खों की कहानियाँ हैं। उपहास करते हुए रावण बोला।

"मैंने समुद्रतट पर आपकी पूरी लंका नगरी सजायी है। आप चलकर तो देखिये !"

रावण उसके साथ समुद्रतट पर गया। वजीर ने अपनी कारीगरी दिखायीः

"देखिये, यह ठीक-ठीक आपकी लंका की नकल है न ?"

रावण ने उसकी अदभुत कारीगरी देखी और कहाः "हाँ ठीक है। यही दिखाने के लिए मुझे यहाँ लाया है क्या ?"

"राजन ! धैर्य रखो। इस छोटी-सी लंका से मैं आपको एक कौतूहल दिखाता हूँ। देखिये, लंका के पूर्व का परकोटा, दरवाजा, बुर्ज और कंगूरे साफ-साफ ज्यों-के-त्यों दिख रहे हैं न ?"

"हाँ दिख रहे हैं।"

"मेरी रची हुई लंका के पूर्व द्वार के कंगूरों को मैं राजा चक्ववेण की दुहाई देकर जरा-सा हिलाता हूँ, इसके साथ ही आप अपनी लंका के पूर्व द्वार के कंगूरे हिलते हुए पायेंगे।"

इतना कहकर मंत्री ने राजा चक्ववेण की दुहाई देकर अपनी रची हुई लंका के पूर्व द्वार के कंगूरे हिलाये तो उसके साथ-ही-साथ असली लंका के कंगूरे भी डोलायमान होते दिखाई दिये। यह देखकर रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे मन्दोदरी की बात याद आ गई। चक्ववेण के वजीर ने बारी-बारी से और भी कंगूरे, परकोटे के द्वार, बुर्ज आदि हिलाकर दिखाया। इसे देखकर रावण दंग रह गया। आखिर वजीर ने कहाः

"राजन ! अभी दो मन सोना देकर जान छुड़ा लो तो ठीक है। मैं तो अपने स्वामी राजा चक्ववेण का छोटा सा वजीर हूँ। उनकी दुहाई से इन छोटे रूप में बनी हुई लंका को उजाड़ूँगा तो तुम्हारी लंका में भी उजाड़ होने लगेगा। विश्वास न आता हो तो अभी दिखा दूँ।"

आखिर रावण भी बड़ा विद्वान था। अगम अगोचर जगत विषयक शास्त्रों से परिचित था। समझ गया बात। वजीर से बोलाः "चल, दो मन सोना ले जा। किसी से कहना मत।"

दो मन सोना लेकर वजीर राजा के पास पहुँचा। चक्ववेण ने कहाः "लंकेश जैसे हठी और महा अहंकारी ने 'कर' के रूप में दो मन सोना दे दिया ? तूने याचना तो नहीं की ?"

"नहीं, नहीं प्रभु ! मेरे सम्राट की ओर से याचना ? कदापि नहीं हो सकती।" वजीर गौरव से मस्तक ऊँचा करके बोला।

"फिर कैसे सोना लाया ?" राजा ने पूछा। रानी भी ध्यानपूर्वक सुन रही थी।

"महाराज ! आपकी दुहाई का प्रभाव दिखाया। पहले तो मुझे कैद में भेज रहा था, फिर मंत्रियों ने समझाया तो मुझे दूत समझकर छोड़ दिया। मैंने रातभर में छोटे-छोटे घरौंदे सागर के तट पर बनाये.... किला, झरोखे, प्रवेशद्वार आदि सब। उसकी लंका की प्रतिमूर्ति खड़ी कर दी। फिर उसको ले जाकर सब दिखाया। आपकी दुहाई देकर खिलौने की लंका का मुख्य प्रवेशद्वार जरा-सा हिलाया तो उसकी असली लंका का द्वार डोलायमान हो गया। थोड़े में ही रावण आपकी

दुहाई का और आपके सामर्थ्य का प्रभाव समझ गया एवं चुपचाप दो मन सोना दे दिया। दया-धर्म करके नहीं दिया वरन् जब देखा कि यहाँ का डण्डा मजबूत है, तभी दिया।"

रानी सब बात एकाग्र होकर सुन रही थी। उसको आश्चर्य हुआ किः "लंकेश जैसा महाबली ! महा उद्दण्ड ! देवराज इन्द्र सहित सब देवता, यम, कुबेर, वरूण, अग्नि, वायु, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, दानव, मानव, नाग आदि सब जिससे काँपते हैं, ऐसे रावण पर भी मेरे पतिदेव के शील-सदाचार का इतना प्रभाव और मैं ऐसे पति की बात न मानकर विलासी स्त्रियों की बातों में आ गई ? फैशनेबल बनने के चक्कर में पड़ गई ? धिक्कार है मुझे और मेरी क्षुद्र याचना को ! ऐसे दिव्य पति को मैंने तंग किया !"

रानी का हृदय पश्चाताप से भर गया। स्वामी के चरणों में गिर पड़ीः "प्राणनाथ ! मुझे क्षमा कीजिए। मैं राह चूक गई थी। आपके शील-सदाचार के मार्ग की महिमा भूल गई थी इसीलिए नादानी कर बैठी। मुझे माफ कर दीजिए। अपना योग मुझे सिखाइये, अपना ध्यान मुझे सिखाइये, अपना आत्महीरा मुझे भी प्राप्त कराइये। मुझे बाहर के हीरे-जवाहरात कुछ नहीं चाहिए। जल जाने वाले इस शरीर को सजाने का मेरा मोह दूर हो गया।"

"तो इतनी सारी खटपट करवायी ?"

"नहीं.... नहीं... मुझे रावण के सोने का गहना पहनकर सुखी नहीं होना है। आपने जो शील का गहना पहना है, आत्म-शांति का, योग की विश्रांति का जो गहना पहना है, वही मुझे दीजिए।"

"अच्छा..... तो वजीर ! जाओ। यह सोना रावण को वापस दे आओ। उसको बता देना कि रानी को गहना पहनने की वासना हो आई थी, इसलिए आदमी भेजा था। अब वासना निवृत्त हो गई है। अतः सोना वापस ले लो।"

वासनावाले को ही परेशानी होती है। जो शील का पालन करता है, उसकी वासनाएँ नियंत्रित होकर निवृत्त होती हैं। जिसकी वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं वह साक्षात् नारायण का अंग हो जाता है। शील का पालन करते हुए राजा चक्ववेण नारायणस्वरूप में स्थिर हुए। उनकी अर्धांगिनी भी उनके पवित्र पदचिह्नों पर चलकर सदगति को प्राप्त हुई।

शीलवान् भोग में भी योग बना लेता है। यही नहीं, नश्वर संसार में शाश्वत् स्वरूप का साक्षात्कार भी कर सकता है।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

भूषणों का भूषणः शील

किं भूषणाद् भूषणमस्ति शीलम्

तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम्।

किमत्र हेयं कनकं च कान्ता
श्राव्यं सदा किं गुरूवेदवाक्यम्।।

'उत्तम-से-उत्तम भूषण क्या है ? शील। उत्तम तीर्थ क्या है ? अपना निर्मल मन ही परम तीर्थ है। इस जगत में त्यागने योग्य क्या है ? कनक और कान्ता (सुवर्ण और स्त्री)। हमेशा सुनने योग्य क्या है ? सदगुरू और वेद के वचन।'

श्री शंकराचार्यविरचित 'मणिरत्नमाला' का यह आठवाँ श्लोक है।

बाहर की सब संपत्ति पाकर भी आदमी वह सुख, वह चैन, वह शांति, वह कल्याण नहीं पा सकता, जो शील से पा सकता है। इन्द्र को स्वर्ग के राज-वैभव, नन्दनवन आदि होते हुए भी वह आनन्द, वह प्रसन्नता न थी, जो प्रहलाद के पास थी। इन्द्र ने अपने गुरू बृहस्पति से यह बात पूछी थी।

प्रह्लाद के जीवन में शील था इसलिए वह साधनों के नहीं होने के बावजूद भी सुखी रह सका। जिसके पास शील है उसके पास साधन न हों तो भी वह सुखी रह सकता है। जिसके जीवन में शील नहीं है वह साधन होते हुए भी परेशान है।

....तो भूषणों का भूषण क्या है ? शील। कई लोग सोने-चाँदी के गहने पहनते हैं, गले में सुवर्ण की जंजीर, पग में झाँझन, कण्ठ में चन्दनहार, हाथ-पैरों में कड़े, कानों में कर्णफूल, ऊँगली में अँगूठी, नाक में नथ इत्यादि पहनते हैं और समझते हैं कि गहने-आभूषण पहनने से हम सुशोभित होते हैं। लेकिन शास्त्रकारों का कहना है, बुद्धिमानों का अनुभव है कि गहने पहनने से हम सुशोभित नहीं होते। गहने आभूषण से हमारा हाड़-मांस-चामवाला देह थोड़ा सा सुशोभित हो सकता है, लेकिन हमारी शोभा इनमें नहीं है। इन अलंकारों से तो हमारी शोभा दब जाती है। हमारी असली शोभा जो निखरनी चाहिए, वह देह का लालन-पालन और बाहरी टिप-टॉप करने की वृत्ति से दब जाती है। बाहरी भूषणों से हाड़-चामवाले देह की कृत्रिम चमक-दमक दिखती है। हमारी शोभा भूषणों से नहीं है, हमारी शोभा है शील से। शीलवान् पुरूष हो या स्त्री, उसका प्रकाश कुटुम्ब, मोहल्ले, जाति आदि में जैसा पड़ता है, वैसा प्रकाश सोने-चाँदी के आभूषणों का नहीं पड़ता। किसी ने चाहे उपरोक्त सब आभूषणों को धारण किया हो, यदि शील न हो तो वे सब व्यर्थ हैं।

मन, वचन और कर्म से अयोग्य क्रिया न करना, देश-काल के अनुसार योग्यता से, सरलता से विचारपूर्वक बर्तना-इस आचरण को शास्त्र में 'शीलव्रत' कहा गया है। उन्नति का मार्ग शील ही है। गीता में बताये हुए दैवी संपत्ति के लक्षण शीलवाले व्यक्ति में होते हैं। यदि आत्मज्ञान न भी हो और शील हो तो मनुष्य नीच गति को प्राप्त नहीं होता। शीलवान ही आत्मबोध प्राप्त करके मुक्त हो सकता है। शीलरहित पुरूष को कड़ा, कुण्डल आदि गहने ऊपर की शोभा भले ही देते हों, परन्तु सज्जन पुरूषों का तो शील ही भूषण है।

शीलरहित मूर्ख को कड़ा, कुण्डल आदि बोझरूप हैं। ये भूषण जीव को जोखिम में डालने वाले और भय के कारण है, जबकि शीलरूपी भूषण लोक और परलोक में उत्तम प्रकार का सुख देने वाला है, इस लोक में शोभा और कीर्ति बढ़ानेवाला है, परलोक में अक्षय सुख को प्राप्त कराता है। मूर्ख पहने हुए गहनों को भी लजा देता है जबकि शीलवान् पहने हुए भूषणों को शोभा देता है।

एक राजपुत्र ने अपने पिता की इच्छा के विरूद्ध एक स्त्री के साथ विवाह कर लिया था और गुप्त स्थान में उसके साथ रहा करता था। राजा को जब यह समाचार मिला कि मेरा पुत्र मेरे शत्रु की पुत्री के साथ विवाह करके गुम हो गया है तो वह बहुत दुःखी हुआ। पुत्र की यह कार्यवाही उसे योग्य न लगी इसलिए दुःखी होते हुए मरण के समीप आ गया। उसको एक ही पुत्र था। मरने के समय उसने कुँवर को बुलाने के लिए आदमी भेजे और अपनी परिस्थिति के समाचार कहलवाये।

कुँवर ने अपनी पत्नी से कहाः "पिता जी मरने की तैयारी में हैं। मुझे उन्होंने अपने पास बुलाया है। इस समय मुझे जाना ही चाहिए। मेरे जाने से वे स्वस्थ हो जायेंगे तो मुझ पर प्रसन्न होंगे। अगर वे चल बसेंगे तो मैं राजा बन जाऊँगा।"

पत्नी बोलीः "तुम राजा बन जाओगे तो मेरा क्या होगा ?"

"मैं तुझे वहाँ बुला लूँगा और पटरानी बनाऊँगा।" यह कहकर राजकुमार ने अपनी नामवाली अँगूठी अपनी उँगली से उतारक पत्नी को पहनाई और स्वयं राजधानी को चल दिया।

वहाँ आकर देखा तो राजा मृत्युशैय्या पर पड़ा था। कुँवर को देखकर राजा प्रसन्न हुआ और बोलाः "मैं तुझसे एक बात कहना चाहता हूँ। यदि तू मेरी बात मान लेगा तो मेरे प्राण सुख से निकलेंगे। पिता के वचन पुत्र को मानने चाहिए। श्रीराम, देवव्रत भीष्म आदि पुत्रों ने माने हैं। यदि तू मानना स्वीकार करे तो कहूँ।"

"पिताजी ! मैं आपकी अन्त समय की आज्ञा का पालन करूँगा।" कुँवर ने स्वीकृति दी।

राजा ने कहाः "हे सुपुत्र ! तू मेरे मित्र गंधर्वराज की कन्या से विवाह करना स्वीकार कर।"

कुँवर ने बात मान ली। राजा का प्राणांत हो गया। कुँवर ने गंधर्वराज की कन्या से विवाह कर लिया। वह राजा होकर राज्य करने लगा और अपनी पूर्व पत्नी से जो बात कहकर आया था, उसको अत्यन्त सुख में भूल गया।

प्रथमवाली राजकन्या ने सुना कि मेरे श्वसुर का देहान्त हो गया है, मेरा पति राजा हो गया है और उसने एक दूसरी राजकन्या से विवाह कर लिया है। इस राजकन्या के पास एक बहुत चतुर दासी थी। राजकुँवर की मुलाकात के लिए वह तीन और कन्याओं को ले आई और उसने राजकन्या सहित चारों को पुरूष की पोशाक पहनाकर राजकुँवर के पास नौकरी करने को

भेजा। कुँवर चारों युवान पुरूषों को देखकर प्रसन्न हुआ और चारों को अपने रक्षकों की नौकरी पर रख लिया।

कुँवर को देखकर राजकन्या के बार-बार आँसू गिरा करते थे। कुँवर ने कई बार पूछा, परन्तु उसने कुछ उत्तर न दिया।

एक दिन कुँवर अकेला उद्यान में बैठा था तो वह अंगरक्षक उदासी से हाथ जोड़कर उसके सामने जा बैठा। कुमार ने उसकी उँगली पर अपने नामवाली अँगूठी देखी तो विस्मय से पूछाः

"हे मित्र ! यह अँगूठी तुझे कहाँ से प्राप्त हुई ?"

"आपके पास से।"

"मैंने यह अँगूठी तुझे कब दी थी ?" राजकुमार का आश्चर्य बढ़ गया।

"जब तुम मुझे छोड़कर आये और राजा बने तब।"

रहस्य खुल गया। वह समझ गया कि यह मेरी प्राणेश्वरी राजकन्या है। प्रिया से क्षमा माँगते हुए उसने अपने पिता की अन्तिम समय की आज्ञा की सारी बात कही। तब राजकन्या बोलीः

"आपने पिता की आज्ञानुसार जो विवाह किया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ। परन्तु आप मेरा त्याग न कीजिए। अपने निवास में दासी के समान रहने दीजिए जिससे मैं नित्य आपके दर्शन कर सकूँ।" कुँवर ने स्वीकार कर लिया और अन्य तीनों को पुरस्कार देकर विदा किया।

गंधर्वराज की कन्या यह विवाह विषयक बात सुनकर कुँवर से बोलीः "आपने जिसके साथ पूर्व में विवाह किया है, उसका हक मारा जाये यह मैं नहीं चाहती। वही आपकी पटरानी होने की अधिकारिणी है। मैं उसकी छोटी बहन के समान रहूँगी।"

इस प्रकार दोनों पत्नियाँ प्रेमपूर्वक बहनों के समान रहने लगीं। इन दोनों ने ही शील का अनुसरण किया इसलिए दोनों ही सुखी हुईं। एक दूसरे का आदर करके सामने वाले के अधिकार की रक्षा करने लगीं।

जैसे भरतजी कहते थे कि राज्य बड़े भाई श्रीराम का है और रामजी कहते थे कि पिता की आज्ञानुसार राज्य का अधिकार भरत का है। यह है शील।

सास सोचे की बहू को सुख कैसे मिले, उसका कल्याण कैसे हो और बहू चाहे कि माता जी का हृदय प्रसन्न रहे.... तो यह शील है।

अगर सास चाहे कि घर में मेरा कहना ही हो और बहू चाहे कि मेरा कहना ही हो, देवरानी चाहे मेरा कहना ही हो और जेठानी चाहे मेरा कहना ही हो – ऐसा वातावरण होगा तो देह पर चाहे कितने ही गहने लदे हों, फिर भी जीवन में सच्चा रस नहीं मिलेगा। सच्चा गहना तो शील है।

सत्य बोलना, प्रिय बोलना, मधुर बोलना, हितावह बोलना और कम बोलना, जीवन में व्रत रखना, परहित के कार्य करना - इससे शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण होता है। जिसके शुद्ध

अन्तःकरण का निर्माण नहीं हुआ वह चाहे अपनी स्थूल काया को कितने ही पफ-पाऊडर-लाली और वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कर दे, लेकिन भीतर की तृप्ति नहीं मिलेगी, हृदय का आनन्द नहीं मिलेगा।

स्वामी रामतीर्थ अमेरिका गये थे। उनके प्रवचन सुनने के लिए लोग इकट्ठे हो जाते। एक बार एक महिला आई। उसके अंग पर लाखों रूपये के हीरेजड़ित अलंकार लदे थे। फिर भी वह महिला बड़ी दुःखी थी। प्रवचन पूरा होते ही वह स्वामी रामतीर्थ के पास पहुँची और चरणों में गिर पड़ी। बोलीः

"मुझे शान्ति दो..... मैं बहुत दुःखी हूँ। कृपा करो।"

स्वामी रामतीर्थ ने पूछाः "इतने मूल्यवान, सुन्दर तेरे गहने, वस्त्र-आभूषण ! तू इतनी धनवान ! फिर तू दुःखी कैसे ?"

"स्वामी जी ! ये गहने तो जैसे गधी पर बोझ लदा हो ऐसे मुझ पर लदे हैं। मुझे भीतर से शांति नहीं है।"

अगर शीलरूपी भूषण हमारे पास नहीं है तो बाहर के वस्त्रालंकार, कोट-पैन्ट-टाई आदि सब फाँसी जैसे काम करते हैं। चित्त में आत्म-प्रसाद है, भीतर प्रसन्नता है तो वह शील से, सदगुणों से। परहित के लिए किया हुआ थोड़ा-सा संकल्प, परोपकारार्थ किया हुआ थोड़ा-सा काम हृदय में शान्ति, आनन्द और साहस ले आता है।

अगर अति उत्तम साधक है तो उसे तीन दिन में आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। तीन दिन के भीतर ही परमात्म तत्त्व की अनुभूति हो सकती है। जन्म-मृत्यु के चक्कर को तोड़कर फेंक सकता है। पृथ्वी जैसी सहनशीलता उसमें होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि इधर-उधर की थोड़ी-सी बात सुनकर भागता फिरे।

पृथ्वी जैसी सहनशक्ति और सुमन जैसा सौरभ, सूर्य जैसा प्रकाश और सिंह जैसी निर्भीकता, गुरूओं जैसी उदारता और आकाश जैसी व्यापकता। पानी में किसी का गला घोंटकर दबाये रखे और उसे बाहर आने की जैसी तड़प होती है ऐसी जिसकी संसार से बाहर निकलने की तीव्र तड़प हो, उसको जब सदगुरू मिल जाय तो तीन दिन में काम बन जाय। ऐसी तैयारी न हो तो फिर उपासना, साधना करते-करते शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण करना होगा।

वेद के दो विभाग है- प्रमाण विभाग और निर्माण विभाग। जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसका जो ज्ञान है उसे 'वेदान्त' कहते हैं। यह है प्रमाण विभाग। दया, मैत्री, करूणा, मुदिता, दान, यज्ञ, तप, स्मरण, परहित, स्वाध्याय, आचार्य-उपासना, इष्ट-उपासना आदि जो कर्म हैं ये शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण करते हैं। जिसके शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण नहीं हुआ वह प्रमाण विभाग को ठीक से समझ नहीं पाता, प्रमाण विभाग का आनन्द नहीं ले पाता। सत्कर्म, साधन, आचार्योपासना आदि करते-करते साधक प्रमाण विभाग का अधिकारी बन जाता है।

आज कल हम लोग प्रायः निर्माण विभाग के अधिकारी हैं। कीर्तनादि से शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण होता है, सदभाव भाव का निर्माण होता है। सदभाव कहाँ से होता है ? शुद्ध अन्तःकरण से। सोने-चाँदी के गहनों से देह की सजावट होती है और कीर्तन आदि से शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण होता है। देह की अपेक्षा अन्तःकरण हमारे ज्यादा नजदीक है। बाहर के गहने खतरा पैदा कर देते हैं जबकि कीर्तन, ध्यानरूपी गहने खतरों को भी खतरा पहुँचा देते हैं। अतः शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण करने वाला शील ही सच्चा आभूषण है।

शील में क्या आता है ? सत्य, तप, व्रत, सहिष्णुता, उदारता आदि सदगुण।

आप जैसा अपने लिए चाहते हैं, वैसा दूसरों के साथ व्यवहार करें। अपना अपमान नहीं चाहते तो दूसरों का अपमान करने का सोचें तक नहीं। आपको कोई ठग ले, ऐसा नहीं चाहते तो दूसरों को ठगने का विचार नहीं करें। आप किसी से दुःखी होना नहीं चाहते तो अपने मन, वचन, कर्म से दूसरा दुःखी न हो इसका ख्याल रखें।

प्राणिमात्र में परमात्मा को निहारने का अभ्यास करके शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण करना यह शील है। यह महा धन है। स्वर्ग की संपत्ति मिल जाय, स्वर्ग में रहने को मिल जाय लेकिन वहाँ ईर्ष्या है, पुण्यक्षीणता है, भय है। **जिसके जीवन में शील होता है उसको ईर्ष्या, पुण्यक्षीणता या भय नहीं होता।** शील आभूषणों का भी आभूषण है।

मीरा के पास कौन-से बाह्य आभूषण थे ? शबरी ने कितने गहने पहने होंगे ? वनवास के समय द्रौपदी ने कौन-से गहने सजाये होंगे ? शील के कारण ही आज वे इतिहास को जगमगा रही हैं।

उदारता देखनी हो तो रंतिदेव की देखो। दान करते-करते अकिंचन हो गये। जंगल में पड़े हैं भूखे-प्यासे। काफी समय के बाद कुछ भोजन मिला और ज्यों ही ग्रास मुख तक पहुँचा कि भूखा अतिथि आ गया। स्वयं भूखे रहकर उसे तृप्त किया। दूसरों की क्षुधानिवृत्ति के लिए अपने शरीर का मांस भी काट-काटकर देने लगे। कैसी अदभुत दानवीरता और उदारता !

साधक में रंतिदेव जैसी दानवीरता और उदारता होनी चाहिए।

उदारता पदार्थों की भी होती है और विचारों की भी होती है। किसी ने कुछ कह दिया, अपमान कर दिया तो बात को पकड़ मत रखिये। जो बीत गई सो बीत गई। उससे छुटकारा नहीं पाएँगे तो अपने को ही दुःखी होना पड़ेगा। जगत को सुधारने का ठेका हमने-आपने नहीं लिया है। अपने को ही सुधारने के लिए हमारा आपका जन्म हुआ है। माँ के पेट से जन्म लिया, गुरू के चरणों में गया और पूरा सुधर गया ऐसा नहीं होता। जीवन के अनुभवों से गुजरते-गुजरते आदमी सुधरता है, पारंगत होता है और संसार-सागर से पार हो जाता है। व्यक्ति में अगर कोई दोष न रहे तो उसे अभी निर्विकल्प समाधि लग जाय और वह ब्रह्मलीन हो जाय।

रामकृष्ण परमहंस बार-बार सत्संग से उठकर रसोईघर में चले जाते और बने हुए व्यंजन-पकवानों के बारे में पूछताछ करते। शारदा माँ कहतीं:

"आप तत्त्वचिन्तन की ऊँची बात करते हैं और फिर तुरन्त दाल, सब्जी, चटनी की खबर लेने आ जाते हैं ! लोग क्या कहेंगे ?"

रामकृष्ण बोलेः "यह माँ की कोई लीला है। मेरी जीवन-नाव तो ब्रह्मानंद-सागर की ऐसी मझधार में है कि कोई उसमें बैठ न सके। इसीलिए माँ ने मेरे चित्त को जिह्वा के रस में शायद लगा दिया है। जिह्वारस के जरिये मैं बाहर के जगत में आ जाता हूँ। जिस दिन यह जिह्वारस छूटा तो समझ लेना... उसी दिन हमारी जीवन-नाव किनारा छोड़कर सागर की मझधार में पहुँच जाएगी। फिर यह देह टिकेगी नहीं।"

....और हुआ भी ऐसा ही। एक दिन शारदामणि देवी भोजन की थाली सजाकर रामकृष्ण देव के समक्ष लायी। थाली को देखकर परमहंसजी ने मुँह फेर लिया। शारदा माँ को उनकी बात याद आ गयी.... हाथ से थाली गिर पड़ी। ढाई-तीन दिन में ही उस महान् विभूति ने अपनी जीवनलीला समेट ली।

हम लोगों में कोई-न-कोई दोष रहता है, आसक्ति रहती है। दोषों से देह जकड़ा रहता है। अगर दोष अनेक होंगे तो अनेक जन्मों की यात्रा करवायेंगे। दोषों के साथ जितना तादात्म्य होगा, उतने हम दोषों से प्रभावित होंगे। ईश्वर के साथ हमारा जितना तादात्म्य होगा, आत्मदेव के साथ जितना तादात्म्य होगा, शील के स्वभाव से जितना तादात्म्य होगा, इतने ये दोष निर्दोषिता में बदलते जाएँगे।

धन का लोभ, सत्ता का लोभ, यश का लोभ, काम का विकार ये सब हैं तो केवल वृत्ति.... केवल संवित्। धन के प्रति कामना जगती है तो वह लोभ बनती है, व्यक्ति के प्रति कामना जगती है तो वह काम बनती है। है वह एक ही संवित्। वह संवित् अगर चैतन्यघन परमात्मा के चिन्तन में लग जाय तो बेड़ा पार कर दे। फिर काम, क्रोध, लोभ का प्रभाव तुम्हें प्रभावित नहीं कर सकेगा। फिर खाते हुए भी भोजन के स्वाद में बँधोगे नहीं। लेते-देते हुए भी लेन-देन के कर्तृत्व अभिमान में बँधोगे नहीं। तुम्हारे शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण होता जाएगा। ऐसा करते-करते आत्मस्वरूप का बोध हो गया तो अन्तःकरण बाधित हो जायेगा। खा रहे हैं फिर भी नहीं खाते, लेन-देन कर रहे हैं फिर भी कुछ नहीं करते।

शील आदि सदगुणों द्वारा शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण किया जाता है। कल्याण का दूसरा उपाय है अन्तःकरण से सम्बन्ध-विच्छेद करने का। अन्तःकरण से सम्बन्ध-विच्छेद करने में सफल हो गये तो वेदान्त दर्शन के सर्वोच्च आदर्शों का साक्षात्कार हो सकता है। शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण करने में सफल हो गये तो भक्ति-दर्शन के मधुर अमृत का आस्वाद प्राप्त हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण का निर्माण ईश्वर-भक्ति में बड़ी सहाय करता है और ईश्वर-तत्त्व के साक्षात्कार में सहायक होता है।

व्यक्ति अगर धार्मिक हो तो अपने लिए ही नहीं, परिवार और समाज के लिए भी उपयोगी होता है। जिसके जीवन में धर्म नहीं है, उस पर अशांति के बादल घिरे रहते हैं। जिसके जीवन में

धर्म है, उसके जीवन में साधना, सहनशक्ति, साहस के गुण निखरते रहते हैं। लड़की धार्मिक है तो माँ-बाप को तसल्ली रहती है। ससुरालवाले उस पर विश्वास करते हैं। व्यक्ति धार्मिक है तो सब लोग उस पर विश्वास करते हैं। इस प्रकार धार्मिकता, सच्चाई, शील आदि परमार्थ में तो सहायक हैं ही, हमारे व्यवहार-जगत में भी उपयोगी है। किसी व्यक्ति के पास धन हो, वैभव हो, लेकिन शील और सन्तोष न हो तो कितना भी बड़ा व्यक्ति शराब-कबाब आदि में फँस जाता है।

......तो उत्तम से उत्तम भूषण है शील।

फिर शंकराचार्य जी आगे कहते हैं कि उत्तम-से-उत्तम तीर्थ क्या है ? अपना विशुद्ध मन ही उत्तम तीर्थ है। गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, काशी, मथुरा, पुष्कर आदि सब तीर्थ तो हैं लेकिन वे बाहर के तीर्थ हैं। विशुद्ध हुआ मन जब परमात्मदेव में डूबता है तब वह उत्तम-से- उत्तम तीर्थ में स्नान करता है। यह तीर्थ भी उसे उत्तम तीर्थ में अर्थात् परमात्मदेव में डूबे हुए संत महापुरूषों के द्वारा मिलता है। तात्पर्य यह है कि उत्तम-से-उत्तम तीर्थ अपना विशुद्ध मन है।

सुनी है एक कहानीः

एक पिता के दो बेटे थे। पिता का स्वर्गवास हुआ। छोटे बेटे ने अपने भाई से कहाः "मैं तीर्थाटन करने जा रहा हूँ। पिताजी की संपत्ति हम आधी-आधी बाँट लेवें।"

बड़ा भाई सहमत होते हुए बोलाः "अच्छा भैया ! तीर्थयात्रा करने जाता है तो भले जा। मेरा यह तुम्बा भी साथ में लेते जा। उसे सब तीर्थों में घुमाना, सब जगह स्नान कराना, देव-दर्शन कराना। मेरे बदले मेरा यह तुम्बा ही तीर्थाटन कर आएगा। तीर्थयात्रा में जो खर्च होगा, आधा मैं दूँगा।"

छोटा भाई बड़े भाई का तुम्बा ले गया। तीर्थों में घुमाते, पवित्र स्थानों में नहलाते, देवदर्शन कराते हुए घर वापस लौटा तो बड़े भाई ने अपना तुम्बा वापस लिया और खर्च का आधा हिस्सा चुका दिया। फिर तुम्बे को छीला और भीतर से थोड़ा चखा तो कडुआ-कडुआ । वह छोटे भाई से बोलाः

"यह तुम्बा इतने तीर्थों में घूमा, सरिताओं में नहाया, देवदर्शन किये, फिर भी कडुआ ही रहा। अभी मधुरता नहीं आई। यह तो बाहर से ही नहाया। भीतर इसका स्नान नहीं हुआ। इसके भीतर जो चीज रखेंगे वह भी कडुवी हो जायेगी।"

बड़ा भाई चतुर था। तुम्बे को कंकड़-मिट्टी-राख आदि डालकर खूब रगड़ा। फिर पानी से अच्छी तरह धोया तो उसकी कडुवाहट दूर हो गयी। अब तुम्बे में जो कुछ रखे वह चीज वैसी ही शुद्ध बनी रहे। छोटा भाई समझ गया कि देह को बाहर के तीर्थों में स्नान कराना ठीक है, अच्छा है लेकिन अपने भीतर शुद्धीकरण करने से ही सच्चा तीर्थत्व महसूस होता है।

मन एक तुम्बा है। शील, हरिनामरूपी पाऊडर, कायिक-वाचिक-मानसिक सत्कर्मरूपी कंकड़ और प्रभु-प्रेमरूपी पानी उसमें डालकर उसे अच्छी तरह धो डालो। फिर साक्षीभाव की निगाह से उसे सुखाओ। यह मनरूपी तुम्बा जब ठीक तरह से धुलकर फिर सूख जाता है तब सब वस्तुएँ

उसमें अमृत जैसी रहती हैं। मनरूपी तुम्बा जब पवित्र हो जाता है तब अमृतमय जीवन का अनुभव करा देता है।

....तो सब तीर्थों में उत्तम तीर्थ है अपना अन्तर्मुख मन, आत्माकार वृत्तिवाला मन। अपने मन के पवित्र होने पर तीर्थों में जाएँगे तो महापुण्य होगा। मन पवित्र नहीं तो तीर्थ में जाने का पूरा लाभ नहीं होगा।

पवित्र मनवाला मनुष्य महापुरूषों के पास जाते ही तत्त्वज्ञान में पहुँच सकता है। अपवित्र मनवाला शंकाशील आदमी घृणा से युक्त होकर सत्संग में बढ़िया-से-बढ़िया बात सुनेगा तो भी उसको रंग नहीं लगेगा। हमारा चित्त जितना पवित्र और निर्दोष होता है उतना ही हमें तीर्थ का भी लाभ होता है।

तीसरी बातः जगत में त्यागने योग्य क्या है ? कनक और कान्ता। कनक माने सुवर्ण अर्थात् धन और कान्ता माने स्त्री। त्यागी, विरक्त संन्यासी के लिए ये दोनों चीजें मूल से और भाव से त्याग देने योग्य हैं। गृहस्थ इन दोनों को मूल से नहीं त्याग सकता क्योंकि इन दोनों के बिना गृहस्थ जीवन टिकेगा नहीं। अतः इनकी आसक्ति त्यागें। 'कनक-कान्ता के बिना मैं जी नहीं सकता' – ऐसी धारणा जो घुस गई है उसका भीतर से त्याग करें। वास्तव में, हम सब चीजों के बिना भी जी सकते हैं, परन्तु अपने चैतन्यस्वरूप आत्मदेव के बिना नहीं जी सकते।

कनक और कान्ता का आकर्षण जीव को उन्नति से गिरा देता है। इस आकर्षण ने कई जपी-तपी-योगी-त्यागियों को गिराकर रख दिया है। गिर जाना यह प्रमाद है, लेकिन गिरकर न उठना यह पाप है।

अन्तःकरण की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। जो अन्तःकरण की अवस्थाओं से पार गये हैं उन महापुरूषों की बात निराली है, लेकिन अन्तःकरण के दायरे में जीनेवाले हम लोगों को शील और ज्ञान का अति आदर करके सावधान होकर रहना चाहिए।

पुरूष साधक के लिए स्त्री का आकर्षण छोड़ना आवश्यक है और महिला साधक के लिए पुरूष का आकर्षण छोड़ना आवश्यक है। जब तक देह के विकारी आकर्षणों में चित्त डूबा रहेगा, तब तक न संसार में रस मिलेगा और न तत्त्वज्ञान में रस मिलेगा। बाह्य आकर्षण का रस जितना कम होता जायेगा उतना आन्तरिक रस शुरू होता जायेगा। जितना आन्तरिक रस बढ़ेगा उतना बाह्य आकर्षण नहीं रहेगा। तब तुम संसार में दिखोगे, व्यापार-धन्धा-रोजगार करने वाले दिखोगे, सन्तान को जन्म देने वाले दिखोगे, दूसरों की नजरों में तमाम क्रिया-कलाप करते हुए दिखोगे लेकिन वास्तव में तुम कहाँ हो यह तुम्ही जानोगे अथवा कोई और ब्रह्मवेत्ता जानेंगे।

अपने विषय में ज्ञान होता है और दूसरे के विषय में अनुमान होता है। अनुमान से भले कोई बुरा कह दे लेकिन तुम्हारे दिल में दुःख नहीं होगा। तुम्हें कोई भला कह दे लेकिन भीतर से भला नहीं हो तो दूसरों का भला कहना भी तुम्हें तसल्ली नहीं देगा। कोई तुम्हें भला कह दे इससे इतना भला नहीं होता जितना तुम्हारा मन स्थिर होने से तुम्हारा भला होता है। कोई तुम्हें

बुरा कर दे इससे इतना बुरा नहीं होता जितना तुम्हारा मन अस्थिर, विकारी होने से तुम्हारा बुरा होता है। अपनी आत्मनिष्ठा और अपना स्वरूप ही कल्याण का धाम है। देह को सजाना, उसे ठीक रखना, देह की मृत्यु से भयभीत होना, निन्दा से भयभीत होना, प्रशंसा के लिए लालायित होना, ये सब कल्याण से वंचित करने वाली बातें हैं। इनमें उलझे हुए लोग परेशान रहते हैं।

क्षमा, शौच, जितेन्द्रियता ये सब सदगुण शील के अन्तर्गत आते हैं, दैवी संपत्ति के अंतर्गत आते हैं। ईश्वर-प्राप्ति की तीव्र इच्छा से आधी साधना हो जाती है, तमाम दोष दूर होने लगते हैं। जगत के भोग पाने की इच्छामात्र से आधी साधना नष्ट हो जाती है, अन्तःकरण मलिन होने लगता है।

'श्रीयोगवाशिष्ठ महारामायण' में लिखा हैः "इस जीव की इच्छा जितनी-जितनी बढ़ती है उतना-उतना वह छोटा हो जाता है। जितनी इच्छा और तृष्णाओं का त्याग करता है उतना वह महान् हो जाता है।"

संसार के सुख पाने की इच्छा दोष ले आती है और आत्मसुख पाने की इच्छा सदगुण ले आती है। ऐसा कोई दुर्गुण नहीं जो संसार के भोग की इच्छा से पैदा न हो। व्यक्ति बुद्धिमान हो, लेकिन भोग की इच्छा उसमें दुर्गुण ले आयेगी। चाहे कितना भी बुद्धू हो, लेकिन ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा उसमें सदगुण ले आएगी।

बहुत भोगियों के बीच साधक जाता है तो बहुतों के संकल्प, श्वासोच्छ्वास साधक को नीचे ले आते हैं। उसका पुराना अभ्यास फिर उसे सावधान कर देता है। अतः योगाभ्यासी साधकों को चाहिए कि वे भोगियों के संपर्क से अपने को बचाते रहें, आदर से शील का पालन करते रहें। शील को ही अपना जीवन बना लें। इससे साधना की रक्षा होगी। .....ओर चलते-चलते कौन नहीं गिरा ? गिरावट के, पतन के कई प्रसंग जीवन में आ जाते हैं। गिरकर फिर सँभल जाने वाला साधक कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

एक विधवा थी। कामातुर होकर किसी के साथ संसार-व्यवहार कर लिया। बात खुल गई तो गाँववालों ने उसे दुराचारिणी घोषित कर दिया। गाँव के मुखिया ने हुक्म कर दिया कि कल इस पापिनी को सजा देने के लिए गाँव के सब लोग एकत्रित होंगे और एक-एक पत्थर उठाकर मारेंगे।

सब लोग हाथ में पत्थर लेकर मारने के लिए तैयार हो गये तो एक कवि ने बुलन्द आवाज में गाया किः "इस अपराधिनी को अपराध की सजा तो वही देगा, जो स्वयं निरपराध हो। जिसने अपने जीवन में कभी कोई अपराध न किया हो वही इसको पत्थर मारेगा।"

सबके हाथ से पत्थर एक-एक करके नीचे गिर पड़े। अपराधिनी नारी ने पश्चाताप के पावन झरने में नहाकर अपना पाप धो लिया।

'सामने वाले व्यक्ति में भी मैं ही हूँ' ऐसा सोच-समझकर उसको सुधरने का मौका देना चाहिए। स्वामी रामतीर्थ बोलते थेः "कुछ लोग अल्प बुद्धि के होते हैं जो दूसरों के दोष ही देखते

रहते हैं। 'फलाना आदमी ऐसा है....वैसा है....' इस दोषदृष्टि के कीचड़ से बाहर ही नहीं निकलते। गुणों को छोड़कर दोषों पर ही उनकी दृष्टि टिकती है। 'घोड़ा दूध नहीं देती है इसलिए वह बेकार है और गाय सवारी के काम नहीं आती इसलिए बेकार है। हाथी चौकी नहीं करता इसलिए बेकार है और कुत्ते पर शोभायात्रा नहीं निकाली जाती इसलिए बेकार है....' आदि-आदि।"

अरे भैया ! घोड़े से सवारी का काम ले लो और गाय से दूध पा लो। हाथी शोभायात्रा में ले लो और कुत्ते से चौकी करवाओ। सब उपयोगी हैं। अपनी-अपनी जगह सब बढ़िया हैं।

किसी में सौ गुण हों और एक अवगुण हो तो इस अवगुण के कारण उसकी अवहेलना करना यह तो अपने ही जीवन-विकास की अवहेलना करने के बराबर है। तुझे जो अच्छा लगे वह ले ले, बुरे के लिए वह जिम्मेदार है। दूसरों की बुराई का चिन्तन करने से अन्तःकरण तेरा मलिन होगा भैया ! उस अवगुण के कारण उसका अन्तःकरण तो मलिन हुआ ही है लेकिन तू उसका चिन्तन करके अपना दिल क्यों खराब करता है ?

भगवान बुद्ध के पास दो मित्र आये और बोलेः "भगवान ! यह मेरा साथी कुत्ते को सदा साथ रखता है। सदा 'टीपू-टीपू' किया करता है। सोता है तो भी साथ में सुलाता है। ...तो बताइये, मरते समय तक टीपू का ही चिन्तन करेगा तो कुत्ता बनेगा कि नहीं ?"

दूसरे मित्र ने कहाः "भन्ते ! मेरी बात भी सुनिये। मेरा यह मित्र बिल्ली को सदा साथ में रखता है, खिलाता-पिलाता है, घुमाता है, अपने साथ सुलाता है और सदा 'मीनी-मीनी' किया करता है। ....तो बताइये, वह बिल्ली बनेगा कि नहीं ?"

बुद्ध मुस्कुराकर बोलेः 'नहीं, वह बिल्ली नहीं बनेगा। बिल्ली तू बनेगा क्योंकि उसकी बिल्ली का चिन्तन तू ज्यादा करता है। वह तेरे कुत्ते का चिन्तन करता है इसलिए वह कुत्ता बनेगा।"

किसी के दोष देखकर हम उसके दोषों का चिन्तन करते हैं। हो सकता है, वह इतना उन दोषों का अपराधी न हो जितना हमारा अन्तःकरण हो जायेगा। इसलिए अपने अन्तःकरण की सुरक्षा करनी चाहिए, उसके शुद्धीकरण में लगे रहना चाहिए। शील और सन्तोषरूपी भूषण से उसे सजाना चाहिए। शील ही बढ़िया-से-बढ़िया आभूषण है। बाहर के आभूषण खतरा पैदा करते हैं, बाहर के आभूषण ईर्ष्या पैदा करते हैं।

बुद्ध एक विशाल मठ में पाँच मास तक ठहरे हुए थे। गाँव के लोग शाम के समय उनकी वाणी सुनने आ जाते। सत्संग पूरा होता तो लोग बुद्ध के समीप आ जाते। उनके समक्ष अपनी समस्याएँ रख देते। किसीको बेटा चाहिए तो किसीको धन्धा चाहिए, किसीको रोग का इलाज चाहिए तो किसीको शत्रु का उपाय चाहिए। किसी को कुछ परेशानी, किसी को कुछ और। भिक्षुक आनन्द ने पूछाः

"भगवन् ! यहाँ श्रीमान लोग भी आते हैं, मध्यम वर्ग के लोग भी आते हैं और छोटे-छोटे लोग भी आते हैं। सब दुःखी-ही-दुःखी। इनमें कोई सुखी होगा ?"

"हाँ, एक आदमी सुखी है।"

"बताइये, कौन है वह ?"

"जो आकर पीछे चुपचाप बैठ जाता है और शांति से सुनकर चला जाता है। कल भी आएगा। उसकी ओर संकेत करके बता दूँगा।"

दूसरे दिन बुद्ध ने इशारे से बताया। आनन्द विस्मित होकर बोलाः "भन्ते ! वह तो मजदूर है। कपड़ों का ठिकाना नहीं और झोंपड़ी में रहता है। वह सुखी कैसे ?"

"आनन्द ! अब तू ही देख लेना।"

बुद्ध ने सब लोगों से पूछाः "आपको क्या चाहिए ?"

सबने अपनी-अपनी चाह बतायी। किसी को धन चाहिए, किसी को सत्ता चाहिए, किसी को यश चाहिए, किसी को विद्वता चाहिए। जिसके पास धन था, सत्ता थी उसको शांति चाहिए। सब लोग किसी-न-किसी परेशानी से ग्रस्त थे। उनके अन्तःकरण खदबदाते थे। आखिर में उस मजदूर को बुलाकर पूछा गयाः

"तुझे क्या चाहिए ? क्या होना है तुझे ?"

मजदूर प्रणाम करते हुए बोलाः "प्रभो ! मुझे कुछ चाहिए भी नहीं और कुछ होना भी नहीं। जो है, जैसा है, प्रारब्ध बीत रहा है। धन में या धन के त्याग में, वस्त्र और आभूषणों में सुख नहीं है। सुख तो है समता के सिंहासन पर और हे भन्ते ! वह आपकी कृपा से मुझे प्राप्त हो रहा है।"

मुझे यह पाना है..... यह करना है..... यह बनना है.... ऐसी खट-खट जिसकी दूर हो गई हो, वह अपने राम में आराम पा लेता है।

चौथी बातः "हमेशा सुनने योग्य क्या है ? सदगुरू और वेद के वचन।

सागर विशाल जलराशि से भरा है लेकिन हम उस जल से न चाय बना सकते हैं, न खिचड़ी पका सकते हैं। वही सागर का पानी सूर्य-प्रकाश से ऊपर उठकर बादल बन जाता है। स्वाति नक्षत्र की बूँद बनकर बरसता है तो सीप में मोती बन जाता है।

ऐसे ही वेद के वचनों की अपेक्षा ब्रह्मज्ञानी सदगुरूओं के वचन ज्यादा मूल्यवान होते हैं। वेद सागर है तो ब्रह्मज्ञानी गुरू का वचन बादल है। सदगुरू वेदों में से, शास्त्रें में से वाक्य लेकर अपने अनुभव की मिठास मिलाकर साधक के हृदय को परमात्म रस से परितृप्त करते हैं। वे ही वचन साधक हृदय में पचकर मोती बन जाते हैं।

ईशकृपा बिन गुरू नहीं, गुरू बिना नहीं ज्ञान।
ज्ञान बिना आत्मा नहीं, गावहिं वेदपुरान।।

ब्रह्म मन एव इन्द्रियों से परे है। ब्रह्मज्ञानी सदगुरू जब 'मैं उपदेश दे रहा हूँ..' इस भाव से भी परे होते हैं तब उनका ज्ञान साधक के हृदय में अपरोक्ष होता है। वेद की ऋचाएँ पवित्र हैं,

वेद का ज्ञान पवित्र है, लेकिन ब्रह्मवेत्ता आत्मज्ञानी महापुरूष के वचन तो परम पवित्र हैं। वे साधक को आत्मानुभूति में पहुँचा देते हैं।

वेद पढ़ने से किसी को आत्म-साक्षात्कार हो जाय यह गारंटी नहीं लेकिन सदगुरू के वचनों से आत्म-साक्षात्कार हो जाय यह कइयों के जीवन में घटित हुआ है। इसीलिए नानकजी ने कहा है किः

गुरू की बानी बानी गुर।

बानी बीच अमृत सारा।।

गुरुओं की वाणी ही गुरू है। उनकी वाणी में ही सारा अमृत भरा रहता है।

....हमेशा सुनने योग्य क्या है ? सदगुरू और वेद के वचन। ये वचन अगर जीवन में आ जायें तो जीवन बड़ा निर्भीक, निर्द्वन्द्व और निश्चिंत बन जाता है। द्वन्द्वों के बीच, भयों के बीच, चिन्ताओं के बीच जीते हुए भी जीवन निश्चिंत होता है।

मनुष्य अपनी आगामी स्थिति का आप निर्माता है, अपने भाग्य का आप विधाता है। वह जो कुछ सोचता है, बोलता है, सुनता है, देखता है उसका प्रभाव उसके जीवन में प्रतिबिम्बित होता है।

ध्वनि के प्रभाव का निरीक्षण करने के लिए कुछ प्रयोग किये गये। एक कागज पर बारीक रेती के कण बिछा दिये गये। कागज के नीचे विभिन्न प्रकार के शब्द और ध्वनि किये गये। हरेक शब्द व ध्वनि के प्रभाव से कागज पर बिछे हुए बारीक कणों में अलग-अलग आकृतियाँ बनती देखी गईं। जैसे ॐ.......का उच्चारण, राम की धुन, अल्ला हो अकबर... की बाँग, कोई संगीत की तर्ज, गन्दी गाली इत्यादि। सूक्ष्म यंत्रों से यह निरीक्षण किया गया।

रेत के कण पर ध्वनि का प्रभाव पड़ता है तो हमारे रक्तकणों पर, श्वेतकणों पर, मन पर, बुद्धि पर, ध्वनि के प्रभाव पड़े इसमें क्या सन्देह है ? विभिन्न ध्वनियों के प्रभाव से हमारी जीवन-शक्ति का विकास या विनाश अवश्य होता है। यह वैज्ञानिक सत्य है।

भारत के प्रसिद्ध संगीत कार ओमकारनाथ ठाकुर देश के प्रतिनिधि के रूप में इटली गये हुए थे। भोजन समारंभ के समय वहाँ के शासक मुसोलिनी ने उनसे पूछाः

"मैंने सुना है कि भारत में श्रीकृष्ण नामक गायें चरानेवाला चरवाहा बंसी में फूँक मारता और अंगुलियाँ घुमाता तो गायें एकतान खड़ी रह जातीं, बछड़े थिरकने लगते, मोर पंख फैलाकर नाचने लगते, अनपढ़ ग्वालबाल और गोपियाँ आनन्द से झूमने लगतीं। मेरी समझ में नहीं आता। क्या यह सच है ? मुझे इन बातों में विश्वास नहीं होता। इसके खिलाफ मैंने कई वक्तव्य दिये हैं। आप भारत से आये हैं। इस विषय में आपका क्या कहना है ?"

किसी की समझ में आ जाये वही सत्य होता है क्या ? सत्य असीम है और समझने वाली बुद्धि सीमित है। फिर, बुद्धि भी सत्त्वप्रधान, रजोप्रधान, तमोप्रधान हुआ करती है। तमोप्रधान

बुद्धि की अपनी सीमा होती है, तुच्छ। रजोप्रधान बुद्धि की अपनी सीमा होती है, कुछ-कुछ। सत्त्वप्रधान बुद्धि की अपनी सीमा होती है, कुछ ठीक-ठीक लेकिन असीम नहीं होती।

बुद्धि माने मति। मति से जो निर्णय या सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं उन्हें मत कहते हैं। मतियाँ बदलती रहती हैं, मत-मतान्तर होते रहते हैं लेकिन सत्य अबदल है। उस अबदल सत्य में जो सुप्रतिष्ठित हैं ऐसे श्रीकृष्ण जब बंसी बजाते होंगे तो बंसी की ध्वनि, बंसी का संगीत उस सत्य को छूकर गोप-गोपियों को झुमाने लगे, इसमें क्या आश्चर्य है ?

ओमकारनाथ ठाकुर ने कहाः "श्रीकृष्ण जैसी हैसियत तो मैं नहीं रखता। उनकी चरणरज के बराबर भी मैं नहीं हूँ। उनके विषय में बोलना मेरे साहस के परे की बात है। लेकिन हाँ...... शब्द की, ध्वनि की अपनी गरिमा होती है। सात्त्विक साज और संगीत में हमारी सुषुप्त शक्तियों को आन्दोलित करने की क्षमता होती है। अभी तो यहाँ भोजन कर रहे हैं। संगीत के कोई साज-वाज नहीं है और मैं कोई अच्छा संगीतज्ञ भी नहीं हूँ, अन्यथा कुछ प्रयोग करते....." इस प्रकार उन्होंने मुसोलिनी को बातों में लगाया। सामने टेबल पर कोई वाद्य नहीं था, चीनी की प्लेटें और छुरी-काँटे, चम्मच आदि पड़े थे। ओमकारनाथ ने बातों-बातों में उन चम्मच-काँटों से प्लेटों को धीरे-धीरे तालबद्ध रूप से बजानी शुरू की। बातें बन्द होती गईं.... संगीत की महफिल जमती गई। कुछ ही मिनटों में वहाँ उपस्थित सब अतिथिगण संगीत के साथ एकतान हो गये। स्वयं मुसोलिनी भी झूमने लग गया। संगीतज्ञ ने अपने साजों को और रंग दिया। वातावरण में मानो कोई विलक्षण नशा सा छा गया। मुसोलिनी का सिर झूमते झूमते टेबल पर टकराने लगा। ओमकारनाथ ने ऐसा बजाया कि उसका सिर लहूलुहान होने लगा। तब मुसोलिनी चिल्ला पड़ाः

"बस.... बस.... बन्द करो अपना बजाना।"

ठाकुर ने कहाः "अपने सिर को रोक दो, झूमना बन्द करो।"

"अब नहीं रोका जाता। सिर से खून बह रहा है.... सहा नहीं जाता।"

ओमकारनाथ ने संगीत बन्द कर दिया। वातावरण शान्त हो गया। मुसोलिनी स्वस्थ हुआ तो ओमकारनाथ ने प्यार भरी निगाहों से निहारते हुए उससे कहाः "मेरे जूठे चम्मचों और प्लेटों के संगीत से तुम्हारी जीवन-शक्ति आनन्दित होकर तीव्रता से आन्दोलित हो सकती है तो परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण बंसी बजाते हुए नुरानी नजरों से गोप गोपियों को निहारकर आनन्द से झुमा दें तो इसमें क्या आश्चर्य है ?"

हमारे जीवन में बहुत सारी संभावनाएँ सोयी हुई पड़ी हैं। हम जिस जगत में जी रहे हैं, जो कुछ जान रहे हैं वह जगत बहुत छोटा है। हम तो एक ही सूर्य को देख रहे हैं लेकिन इस सूर्य से भी लाखों गुना बड़े-बड़े सूर्य और तारे आकाशगंगा में हैं। ऐसी कई आकाशगंगाएँ एक ब्रह्माण्ड में हैं। ऐसे कई ब्रह्माण्डों को यथाविधि चलानेवाली जो सत्ता है, वही सत्ता हमारे शरीर में बाल उगाती है, पैरों को पसारने की ताकत देती है, मन को फुरने और बुद्धि को निर्णय करने की शक्ति देती है। सर्वत्र व्यापक सत्ता एक ही है। मन और बुद्धि जितने प्रमाण में उसमें विश्रांति पाते

हैं उतने वे दिव्य हो जाते हैं। इस व्यापक सत्ता में सर्वथा विश्राम पाने का यत्न करना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैंः

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरूषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।

'हे पार्थ ! परमेश्वर के ध्यान के अभ्यासरूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशरूप दिव्य पुरूष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है।'

(गीताः 8.8)

अभ्यास तो सब करते हैं। झाड़ू लगाने का अभ्यास नौकरानी भी करती है और मतंग ऋषि के आश्रम में शबरी भी करती है। रोटी बनाने का अभ्यास बावर्ची भी करता है, माँ भी करती है और गुरू के आश्रम में शिष्य भी करता है। बावर्ची का रोटी बनाना नौकरी हो जाता है, माँ का रोटी बनाना सेवा हो जाती है और शिष्य का रोटी बनाना भक्ति हो जाती है। नौकरानी का झाड़ू लगाना नौकरी हो जाती है और शबरी का झाड़ू लगाना बन्दगी हो जाती है।

अभ्यास तो हम करते हैं लेकिन अभ्यास में योग को मिला दो। जिस अभ्यास का प्रयोजन ईश्वर प्राप्ति है, इष्ट की प्रसन्नता है, सदगुरू की प्रसन्नता है वह अभ्यास योग हो जाता है। जिस अभ्यास का प्रयोजन विकारों की तृप्ति है, वह अभ्यास संसार हो जाता है।

जीवन दोधारी तलवार जैसा है। अपने क्रिया-कलापों से मोक्षमार्ग में आनेवाले विघ्नों को भी काट सकते हैं और आत्मोत्थान करने वाले गुणों को भी काट सकते हैं, क्षीण कर सकते हैं। संगीत के साधनों का उपयोग 'रोक एण्ड रोल' में करके जीवन-शक्ति का ह्रास भी कर सकते हैं और भक्तिमय धुन-कीर्तन में करके जीवन-शक्ति का विकास भी कर सकते हैं। देवर्षि नारदजी ने 'भक्तिसूत्र' में कहा हैः **तत् कीर्तनात्।**

कीर्तन, ध्यान और सत्संग जीवन-शक्ति का विकास करके जीवनदाता में मिल जाने के लिए परम श्रेष्ठ साधन हैं। ब्रह्मवेत्ता संत-महापुरूष-सदगुरू के सान्निध्य में यह दिव्य काम सहजता से हो जाता करता है। इसीलिए कबीरजी कहते हैं:

सत्संग की आधी घड़ी सुमिरन वर्ष पचास।
वर्षा वरसे एक घड़ी अरट फिरे बारों मास।।
सुख देवे दुःख को हरे करे पाप का अन्त।
कह कबीर वे कब मिलें, परम सनेही संत।।

परम के साथ जिनका स्नेह है ऐसे संत जब मिलते हैं तब जीवन-शक्ति का विकास होता है। कबीर जी की यह बात सैंकड़ों वर्ष पूर्व की है, शंकराचार्यजी की बात सदियों पूर्व की है, शास्त्रों की बात हजारों-लाखों वर्ष पूर्व की हे। इसी बात को आज के युग में डॉ. डॉयमण्ड ने रिसर्च (अनुसंधान) करके सिद्ध किया तो लोग विश्वास करने लगे हैं।

सत्य किसी रिसर्च का विषय नहीं होता, अपितु सारा रिसर्च उस सत्य के आधार पर होता है। सामाजिक सत्य रिसर्च का विषय हो सकता है, प्राकृतिक रहस्य रिसर्च का विषय हो सकता है, लेकिन सनातन सत्य किसी रिसर्च का विषय नहीं हो सकता। सारे रिसर्च का जहाँ अन्त आ जाता है, वहाँ से सनातन सत्य का श्रीगणेश होता है।

मत मति के होते हैं, इसलिए मतान्तर हो सकते हैं। हमारा इष्ट मति नहीं, हमारा इष्ट मत नहीं लेकिन करोड़ों-करोड़ों मतियाँ जिस सच्चिदानंदघन परमात्मा में प्रकट होकर लीन हो जाती हैं, वह इष्ट हमारा राम..... हमारा अपना आत्मा है। यह है सनातन सत्य की बात। इसी को वेद भगवान ने कहाः **सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म।** वह सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है।

मच्छर को कौन-से स्कूल-कॉलेज में शिक्षा दी गई कि यहाँ पर बैठोगे तो खाना मिलेगा ? किसी ने सिखाया तो नही। जहाँ रक्त था वहीं पर वह बैठा। .....तो परमात्मा की ज्ञान- सत्ता सूक्ष्म जीवों में भी है। खाने-पीने की और अपनी पार्टी की रक्षा करने की बुद्धि अगर किसी व्यक्ति में है तो इस बुद्धि का कोई विशेष फायदा नहीं। इतनी बुद्धि तो बैक्टेरिया (जीवाणुओं) में भी है। अपनी पार्टीवाले में और दूसरी पार्टीवाले में भी जो सत्य है उस सनातन सत्य को स्वीकार करके अपने अहंकार का आग्रह छोड़कर जो जीवन की यात्रा करता है, वह सच्चा धनी है, सच्चा बुद्धिमान है, सच्चा शीलवान् है। बाहर के आभूषण सच्चे आभूषण नहीं हैं। सच्चा आभूषण तो व्यक्ति का आन्तरिक जीवन है। बाहर के आभूषण तो बाहर के शरीर को थोड़ी चमक-दमक दे सकते हैं, लेकिन तुमको वे नहीं चमकाते। तुम्हारी वास्तविक चमक को वे दबाते हैं और अहंकार को जगाते हैं। श्री शंकराचार्यजी कहते हैं- "सच्चा आभूषण शील है और नित्य कर्त्तव्य सत्संग है।" वेदवचन, शास्त्रवचन की अपेक्षा जीवन्मुक्त ब्रह्मवेत्ता के वचन साधक के लिए अधिक हितावह है। अपौरूषेय सनातन तत्त्व में बैठकर ब्रह्मवेत्ता जब बोलते हैं तब उनकी वाणी हमारी जीवन-शक्ति का विकास करके जीवनदाता से मुलाकात करा देती है। हृदय की गहराई से आने वाले उनके अनुभवनिष्ठ वचन हमारे कानों के द्वारा हृदय की गहराई में पहुँच जाते हैं... चित्त में विश्रान्ति मिलती है.... जीवन में आनन्द, उल्लास और मधुरता छा जाती है।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

सत्संग-सुधा

शील का दान

जिस मनुष्य में शील है वह सब चीजों का अधिकारी है। उसके पास शील के साथ धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी बराबर निवास करते हैं। वह हमेशा अपने शील के प्रभाव से सारे संसार में श्रेय पाता है। उसे हर व्यक्ति वन्दन करता है। उसके पास की इतनी बड़ी शक्ति हमेशा उसका साथ देती है जिससे कि उसके विचारों में कोई दुविधा उत्पन्न नहीं होती। वह किसी से

भी ईर्ष्या, द्वेष और राग नहीं करता, न तो किसी पर क्रोध करता है, न किसी से उद्विग्न होता है। अपने ज्ञान के बल पर वह दूसरों से सदव्यवहार ही करता है। जिस देश या समाज में ऐसे महापुरूष होते हैं, वह देश या समाज धन्य हो जाता है।

महाभारत का प्रसंग हैः

इन्द्रप्रस्थ में राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। उस समय सभामण्डप को नाना प्रकार के उपकरणों से सजाया गया। उन्हें देखकर दुर्योधन को बड़ा सन्ताप हुआ। वहाँ से लौटने पर अपने पिता धृतराष्ट्र से उसने ये सब बातें कहीं। तब धृतराष्ट्र ने कहाः

"बेटा ! यदि तुम युधिष्ठिर की भाँति या उनसे भी आगे बढ़कर राजलक्ष्मी पाना चाहते हो तो शीलवान् बनो। शील से तीनों लोक जीते जा सकते हैं। शीलवानों के लिए इस संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। महाभाग ने सात रातों में, जन्मेजय ने तीन रातों में और मान्धाता ने एक ही रात में इस पृथ्वी का राज्य प्राप्त किया था। वे सभी राजा शीलवान् तथा दयालु थे। अतः उनके द्वारा गुणों के मोल खरीदी हुई यह पृथ्वी स्वयं ही उनके पास आ गई थी।"

दुर्योधन ने पूछाः "महाराज ! जिसके द्वारा उन राजाओं ने शीघ्र ही भूमण्डल का राज्य पा लिया, वह शील कैसे प्राप्त होता है ?"

धृतराष्ट्र बोलेः "वत्स ! इसके विषय में एक इतिहास है, जिसे नारदजी ने सुनाया था।

प्राचीन समय की बात है। दैत्यराज प्रह्लाद ने अपने शील के प्रभाव से इन्द्र का राज्य ले लिया और तीनों लोकों को अपने वश में कर शासन करने लगा। उस समय इन्द्र ने बृहस्पतिजी के पास जाकर उनसे ऐश्वर्य-प्राप्ति का उपाय पूछा और बृहस्पति ने उन्हें इस विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए शुक्राचार्य के पास जाने की आज्ञा दी। इन्द्र ने प्रसन्नतापूर्वक शुक्राचार्य के पास जाकर फिर वही प्रश्न दोहराया। शुक्राचार्यजी बोलेः "इसका विशेष ज्ञान महात्मा प्रह्लाद को ही है।"

यह सुनकर इन्द्र बहुत खुश हुए और ब्राह्मण का रूप धारण कर प्रह्लाद के पास गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने कहाः

"राजन ! मैं श्रेय-प्राप्ति का उपाय जानना चाहता हूँ। आप बताने की कृपा करें।"

प्रह्लाद ने कहाः "विप्रवर ! मैं तीनों लोकों के राज्यों का प्रबन्ध करने में व्यस्त रहता हूँ इसलिए मेरे पास आपको उपदेश देने का समय नहीं है।"

ब्राह्मण ने कहाः "महाराज ! जब समय मिले तभी मैं आपसे उत्तम आचरण का उपदेश लेना चाहता हूँ।"

ब्राह्मण की सच्ची निष्ठा देखकर प्रह्लाद बड़े प्रसन्न हुए और शुभ समय आने पर उन्होंने उसे ज्ञान का तत्त्व समझाया। ब्राह्मण ने भी अपनी उत्तम गुरूभक्ति का परिचय दिया। उसने प्रहलाद की इच्छानुसार न्यायोचित रीति से भलीभाँति उनकी सेवा की। फिर समय पाकर उनसे अनेकों बार यह प्रश्न कियाः

"त्रिभुवन का उत्तम राज्य आपको कैसे मिला ? इसका रहस्य बताइये।"

प्रह्लाद ने कहाः "विप्रवर ! मैं राजा हूँ, इस अभिमान में आकर किसी ब्राह्मण की निन्दा नहीं करता। शुक्राचार्य जब मुझे नीति का उपदेश करते हैं उस समय मैं संयमपूर्वक उनकी बातें सुनता हूँ, उनकी आज्ञा को सिर पर धारण करता हूँ। शुक्राचार्य जी के बताये हुए नीतिमार्ग पर यथाशक्ति चलता हूँ। ब्राह्मणों की सेवा करता हूँ। क्रोध को जीतकर मन को काबू में रखकर इन्द्रियों को भी सदा वश में किये रहता हूँ। मेरे इस बर्ताव को जानकर ही विद्वान मुझे अच्छे-अच्छे उपदेश दिया करते हैं और मैं उनके वचनामृत का पान करता रहता हूँ। इसलिए जैसे चन्द्रमा नक्षत्रों पर शासन करते हैं उसी प्रकार मैं भी अपने जातिवालों पर राज्य करता हूँ। शुक्राचार्य जी का नीतिशास्त्र ही इस भूमण्डल का अमृत है, यह उत्तम नेत्र है और यही श्रेय-प्राप्ति का उत्तम उपाय है।"

प्रह्लाद से इस प्रकार उपदेश पाकर भी वह ब्राह्मण उनकी सेवा में लगा ही रहा। तब प्रह्लाद ने कहाः

"विप्रवर ! तुमने गुरू के रूप में मेरी सेवा की है। तुम्हारे इस बर्ताव से प्रसन्न होकर मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वह माँग लो, मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा।"

ब्राह्मण वेश में छुपे हुए इन्द्र ने कहाः "महाराज ! यदि आप प्रसन्न हैं और मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे आपका ही शील ग्रहण करने की इच्छा है। वही वर दीजिए।"

यह सुनकर प्रह्लाद को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचाः "यह कोई साधारण मनुष्य नहीं होगा।" फिर भी तथास्तु कहकर उसे वर दे दिया। वर पाकर विप्र-वेशधारी इन्द्र तो चले गये, परन्तु प्रह्लाद के मन में बड़ी चिन्ता हुई। सोचने लगे कि क्या करना चाहिए मगर किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। इतने में उनके शरीर से एक परम कांतिमान्, तेजस्वी और मूर्तिमान छाया प्रकट हुई। उसे देखकर प्रह्लाद ने पूछाः

"आप कौन हैं ?"

"मैं शील हूँ। तुमने मुझे त्याग दिया इसलिए जा रहा हूँ। अब उसी ब्राह्मण के शरीर में निवास करूँगा जो तुम्हारा शिष्य बनकर एकाग्र चित्त से सेवापरायण हो यहाँ रहा करता था।" यह कहकर वह तेज वहाँ से अदृश्य हो गया और इन्द्र के शरीर में प्रवेश कर गया।

उसके अदृश्य होते ही उसी तरह का दूसरा तेज प्रह्लाद के शरीर से प्रकट हुआ। प्रह्लाद ने पूछाः "आप कौन हैं ?"

"प्रह्लाद ! मुझे धर्म समझो। मैं भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मण के पास जा रहा हूँ, क्योंकि जहाँ शील होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ।"

वह विदा हुआ तो तीसरा तेजोमय विग्रह प्रकट हुआ। उससे भी प्रश्न पूछा गयाः

"आप कौन हैं ?"

"असुरेन्द्र ! मैं सत्य हूँ और धर्म के पीछे जा रहा हूँ।

सत्य के जाने पर एक और महाबली पुरूष प्रकट हुआ और पूछने पर उसने कहा-

"प्रह्लाद ! मुझे सदाचार कहते हैं। जहाँ सत्य हो वहीं मैं भी रहता हूँ।"

उसके चले जाने पर प्रह्लाद के शरीर से बड़ी गर्जना करता हुआ एक तेजस्वी पुरूष प्रकट हुआ। पूछने पर उसने बतायाः

"मैं बल हूँ और जहाँ सदाचार गया है वहीं स्वयं मैं भी जा रहा हूँ।" वह चला गया।

तत्पश्चात प्रह्लाद के शरीर से एक प्रभामयी देवी प्रकट हुई। पूछने पर उन्होंने बतायाः

"मैं लक्ष्मी हूँ। तुमने मुझे त्याग दिया है इसलिए यहाँ से जा रही हूँ क्योंकि जहाँ बल रहता है, वहीं मैं भी रहती हूँ।

प्रह्लाद ने पुनः पूछाः "देवी आप कहाँ जाती हैं ? वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन था ? मैं इसका रहस्य जानना चाहता हूँ।

लक्ष्मी बोलीः "तुमने जिसे उपदेश दिया है उस ब्राह्मण के रूप में साक्षात इन्द्र थे। तीनों लोकों में जो तुम्हारा ऐश्वर्य फैला हुआ था, वह उन्होंने हर लिया। हे धर्मज्ञ ! तुमने शील के द्वारा तीनों लोकों पर विजय पायी थी, यह जानकर इन्द्र ने तुम्हारे शील का अपहरण किया है। धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी) यह सब शील के ही आधार पर रहते हैं। शील ही सबका मूल है।"

यह कहकर लक्ष्मी आदि सब शील के पीछे चले गये।

इस कथा को सुनकर दुर्योधन ने पुनः अपने पिता से पूछाः

"हे तात ! मैं शील का तत्त्व जानना चाहता हूँ। मुझे समझाइये और जिस तरह उसकी प्राप्ति हो सके वह उपाय भी बताइये।"

धृतराष्ट्र ने कहाः "शील का स्वरूप और उसे पाने का उपाय ये दोनों बातें महात्मा प्रह्लाद की कथा से पहले ही प्रकट हुई हैं। मैं संक्षेप में शील की प्राप्ति का उपायमात्र बता रहा हूँ। ध्यान देकर सुनो।

मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी के साथ द्रोह न करो। सब पर दया करो। अपनी शक्ति के अनुसार दान दो। परस्त्री को माता के समान समझो। ऐसा कार्य करो कि चार सत्पुरूषों की सभा में प्रशंसा हो। ऐसा कार्य कभी न करो कि चार सत्पुरूषों की सभा में सिर नीचा करना पड़े। गुरूजनों का आदर करो। यही वह उत्तम शील है जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं। अपने जिस किसी कार्य या पुरूषार्थ से दूसरों का हित न होता हो तथा जिसे करनें में संकोच का सामना करना पड़े वह सब किसी तरह भी नहीं करना चाहिए। जिस काम को जिस तरह करने से मानव-समाज में प्रशंसा हो, मानव-समाज का कल्याण हो, उसी तरह करना चाहिए। इस तत्त्व को ठीक से समझ लो। यदि युधिष्ठिर से भी अच्छी सम्पत्ति पाना चाहते हो तो शीलवान् बनो।"

इस कथा से शील का महत्त्व प्रकट होता है। मनुष्य अपने शील को कभी न छोड़ते हुए सब प्राणियों का हित चाहे, दूसरों के संकट में सहायक बने और अपने मन से उदारता का बर्ताव

करे, बड़ों का सम्मान करे, गुणीजनों की पूजा करे और शील का महत्त्व समझकर अपनेको प्राणीमात्र का सेवक समझे।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

चतुराई चूल्हे पड़ी........

भक्त का हृदय भक्त की ओर स्वाभाविक रूप से आकर्षित होता है और दुर्जन मनुष्य का मन दुर्जन की ओर ही मुड़ता है।

भक्त रैदासजी की ख्याति उनके समकालीन महान् रामभक्त गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के कानों तक पहुँची तो संत तुलसीदासजी के दिल में रैदासजी से मिलने की उत्कण्ठा हो गयी। वे जानते नहीं थे कि भक्त रैदासजी चमार जाति में उत्पन्न हुए हैं और अपनी जाति का व्यवसाय करते हुए ही प्रभु-भजन में तल्लीन रहते हैं। वे अपने शिष्यवृन्द के साथ रैदासजी से मिलने के लिए चल पड़े।

रैदासजी के गाँव में आकर तुलसीदास जी रूके और वहाँ रहने वाले अपने एक भक्त ब्राह्मण को बुलवाकर पूछाः

"यहाँ रैदासजी नाम के परम भक्त कहाँ रहते हैं ?"

ब्राह्मण ने हाथ जोड़कर कहाः "महाराजजी ! यहाँ रैदास नाम का कोई संत-महात्मा या ब्राह्मण भक्त नहीं रहता। हाँ, रैदास नाम का एक शूद्र(चमार) है। वह शालिग्राम की पूजा करता है। थोड़ा बहुत प्रसिद्ध भी हो गया है लेकिन आप जैसे महात्मा का वहाँ जाना उचित नहीं। वह चमार कितना भी शुद्ध हो, फिर भी आप जैसे संत-महात्मा के बराबर नहीं है।"

भक्तप्रवर रैदासजी चमार जाति के हैं, यह जानकर तुलसीदासजी के चित्त में संकोच हुआ। इतनी दूर तक उन्हीं से मिलने आये हैं, अब मिले बिना कैसे लौट जायें ? गोस्वामीजी अन्य तमाम शिष्यों को वहीं छोड़कर हरिदास नाम के एक अल्पबुद्धि शिष्य को साथ लेकर रैदासजी की पर्णकुटी की ओर चल पड़े। ज्यादा चतुर शिष्य तो कहीं गड़बड़ भी कर सकता है। बुद्धू कहीं बोलेगा नहीं। बोलेगा भी तो कोई उसकी बात पर ध्यान नहीं देगा। अतः ऐसे नाजुक प्रसंग में बुद्धू शिष्य हरिदास ही साथ में रहे तो ठीक है।

योगानुयोग ऐसा हुआ कि जब वे उनकी कुटी तक पहुँचे तो रैदास जी अपने आँगन में मरे हुए बैल का चाम उतार रहे थे। परमात्मा में चित्त लगाकर, राग-द्वेष से रहित होकर वे अपना कुलधर्म, स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्म निभा रहे थे। **कर में काम और मुख में राम।** उनके हाथ बैल के रक्त से रंगे हुए थे और हृदय प्रभु की भक्ति में रँगा था।

गोस्वामीजी को दूर से ही रैदासजी ने पहचान लिया। रैदासजी के हृदय में उनके लिए बड़ा आदरभाव था। 'आज अनायास ही वे अपने घर पधार रहे हैं....' यह देखकर रैदासजी का आत्मिक

प्यारभरा दिल उमड़ पड़ा। प्रेमावेश में आकर वे क्या कर रहे हैं यह न सोचकर हथियार फेंक दिये.... ऐसे ही रँगे हाथ सामने दौड़ गये और गोस्वामीजी को आलिंगन करने गये परन्तु गोस्वामीजी दो-चार कदम पीछे हट गये। अतः रैदास जी ने चरणों में प्रणाम किया। वे तुलसीदासजी का संकोच समझ गये। मन में अपनी ऐसी दशा के कारण थोड़ी ग्लानि हुई लेकिन अब क्या करें ? जो हो गया सो हो गया। पलभर दोनों मौन रहे और दोनों ने भीतर-ही- भीतर इस घटना का समाधान पा लिया। चित्तवृत्ति के संकोच को लेकर तुलसीदासजी का चित्त थोड़ा अप्रसन्न हुआ फिर भी यथायोग्य वार्त्तालाप करके रैदासजी से विदा माँगी। दण्डवत् प्रणाम करके रैदासजी ने क्षमा माँगी और गोस्वामीजी को विदा किया। अपने शिष्यों को लेकर तुलसीदासजी वापस लौटे।

रैदासजी बैल के रक्त से रँगे हुए हाथों से जब आलिंगन करने के लिए आगे दौड़ आये तब तुलसीदासजी संकोच करके दो-चार कदम पीछे खिसक गये थे फिर भी रक्त की कुछ बूँदें उनके वस्त्र पर पड़ गईं थीं। रास्ते में तालाब पर उन्होंने स्नान कर लिया, वस्त्र बदल लिये। वस्त्र पर लगे रक्त के धब्बे धो डालने के लिए अपने अल्पबुद्धि शिष्य हरिदास को वह वस्त्र दे दिया और जो घटना घटी थी उसे गुप्त रखने की आज्ञा देकर अपने निवास पर लौट आये।

हरिदास ज्यों-ज्यों वस्त्र धोता गया, त्यों-त्यों रंग सुरंग होता गया। कुछ भी करे लेकिन दाग मिटते ही नहीं थे। शिष्य परेशान हो गया। गुरूदेव की सेवा और आज्ञा को ही सब कुछ माननेवाला वह हरिदास सोच में पड़ गया। अब क्या किया जाय ? कार्य पूरा किये बिना गुरूदेव के सामने भी कैसे जायें ?

संत-महात्मा-सदगुरू की सेवा बड़े भाग्य से मिलती है। अभागे आदमी को तो संत की सेवा मिलती ही नहीं। उसे संत दर्शन की रूचि भी नहीं होती।

तुलसी पूर्व के पाप से हरिचर्चा न सुहाय।

कोई पुण्यात्मा है कि दुरात्मा, इसकी कसौटी करना है तो उसे ले जाओ किसी सच्चे संतपुरूष के पास। अगर वह आता है तो तुम उसे जितना पापी समझते हो उतना वह पापी नहीं है। अगर नहीं आता है तो तुम उसे जितना धर्मात्मा मानते हो उतना वह धर्मात्मा नहीं है। शास्त्रवेत्ता कहते हैं कि सात जन्म के पुण्य जब जोर मारते हैं तब संत-दर्शन की इच्छा होती है। लेकिन इच्छा पूरी होते-होते समय पूरा हो जाता है।

बुद्ध जब महानिर्वाण को जा रहे थे तब कोई अभागा व्यक्ति भागता-भागता आया और बोलाः "पिछले चालीस साल से मैंने भगवान बुद्ध की ख्याति सुनी थी। आज जाऊँ, कल जाऊँ.... ऐसा करते-करते समय बीत गया। फिर उनके विषय में अफवाहें सुनने को मिलीं तो अपने को रोक दिया। कभी होता कि दर्शन करूँ और कभी होता कि नहीं जाना है। ऐसा करते-करते चालीस वर्ष गुजर गये। अब मुझे उनके दर्शन करने हैं।"

बुद्ध के विशेष शिष्य आनन्द ने कहाः "अब समय पूरा हो गया। भगवान बुद्ध अब महानिर्वाण को जा रहे हैं। दर्शन नहीं हो सकते।"

सात जन्मों के पुण्यों के जोर से संतदर्शन की इच्छा होती है लेकिन जीव दर्शन कर नहीं पाता। दूसरे सात जन्मों के सत्कृत्य जब जोर मारेंगे तब दर्शन के द्वार पर पहुँचेगे फिर दर्शन नहीं कर पायेंगे। तीसरे सात जन्मों के पुण्य जब जोर पकड़ते हैं तब संत का सान्निध्य और उनके अमृत वचन सुनने को मिलते हैं।

शिष्य हरिदास श्रीहरि से प्रार्थना करने लगाः

"हे प्रभो ! गुरूदेव की सेवा करने का सदभाग्य मिला है लेकिन मैं सेवा कर नहीं पा रहा हैं। गुरूजी का बताया हुआ यह छोटा सा काम भी नहीं कर पाता हूँ। क्या करूँ कि ये लाल धब्बे दूर हों ? हे नाथ ! तू ही मार्ग बता।" शिष्य की आँखें डबडबा आईं। गला रूँधने लगा। प्रार्थना ने जोर पकड़ा। उसे हुआ कि वस्त्र का दाग मुँह में डालकर चूसूँ तो शायद निकल जाय।

आज्ञापालन और सेवा की धुन में शुद्धि-अशुद्धि का सोच-विचार न करके हरिदास वस्त्र में लगे हुए रक्त के दाग मुँह में डालकर चूसने लगा। बाहर का दाग तो मिटता गया, साथ-ही-साथ अन्तःकरण का मैल भी धुलता गया। हृदय में त्रिकालज्ञान का प्रकाश हो गया। अनुपम दिव्य दृष्टि खुल गई। उसने वस्त्र को शुद्ध जल में फिर से धोकर सुखा दिया और गुरूजी के पास पहुँचा दिया।

संध्या का समय था। हजारों भक्तों के बीच गोस्वामी श्री तुलसीदासजी रामायण की कथा सुना रहे थे। प्रतिदिन होनेवाले इस सत्संग-कथा-प्रवचन में दूर दूर से लोग आते थे और भक्त कवि संतश्री की कथा सुनते थे।

रैदासजी से मिलकर काशी में वापस लौटने के बाद यह पहली बार ही कथा हो रही थी। काफी लोग कथा सुनने के लिए इकट्ठे हो गये थे। कथा का प्रसंग थाः वनवास से अयोध्या वापस लौटने के बाद सीताजी का सब बन्दरों को वस्त्रालंकार, भेंट सौगात और विभिन्न प्रकार के भोजन-पकवान देना। सीता जी ने हनुमानजी को अपना अमूल्य मणिहार भेंट किया तो हनुमान हार के एक-एक मणि को मुँह में डालकर दाँतों से तोड़ने लगे। यह देखकर सभा के लोग सोचने लगे कि हनुमानजी कैसे भी हों लेकिन आखिर बन्दर जाति के ठहरे ! उनको ऐसे अमूल्य हार का मूल्य कैसे पता चले !

यहाँ तक कथा-प्रसंग चलने के बाद गोस्वामीजी को अभी-अभी का रैदासवाला प्रसंग याद आ गया। जाति-स्वभाव पर विशेष विवेचना करने की इच्छा उनको हो आई। जीवन में चतुराई और आचार-विचार की आवश्यकता है। रैदास ने जो किया, वह बेहूदा था। रैदास के बारे में वह प्रसंग बोलने का वह सोच ही रहे थे तो उनकार वह बुद्धू शिष्य हरिदास खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बड़े विनय भाव से तुलसीदासजी के कान में धीरे से बोलाः

"गुरूदेव ! अब आगे जो बात आप बोलनेवाले हैं वह कृपा करके न बोलें तो अच्छा है।"

"कौन-सी बात ?" तुलसीदासजी ने चकित होकर पैनी दृष्टि डालते हुए पूछा।

"स्वामीजी ! आप कलवाली घटना लेकर भक्तराज रैदास की जाति विषयक, उनके आचार विषयक जो विवेचना करना चाहते हैं, उसमें भक्ति की निन्दा और जाति की स्तुति होगी। यह होना उचित नहीं।" हरिदास ने चमचमाता हुआ सत्य प्रकट किया।

हरिदास का वचन सुनकर गोस्वामीजी आश्चर्यमुग्ध हो गये। मेरे मन की बात यह बुद्धिहीन शिष्य कैसे जान गया ! उनको कुछ समझ में नहीं आ रहा था। पूछाः

"बेटा ! मेरे भीतर की बात तूने कैसे जान ली।"

"गुरू महाराज ! आपकी ही कृपा से। आपका दिया हुआ वह वस्त्र धोते-धोते एवं उस पर पड़े लाल दाग चूसते-चूसते वे मिट गये और साथ-ही-साथ मेरे दिल के दाग भी धुल गये। आपकी कृपा से मुझे त्रिकालज्ञान की दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है।"

यह सुनकर तुलसीदासजी को लगा कि हमने संत रैदासजी को पहचानने में भूल की है। आचार में उनके साथ अन्याय हो गया है। रैदासजी के प्रति जातीय घृणा के स्थान पर उनके भक्तिभाव, सबके प्रति आत्मभाव और अपने निर्मल आत्मस्वरूप में स्थितिवाली उनकी अवस्था पर तुलसीदास जी को प्यार उमड़ आया। उनकी आत्मनिष्ठा का प्रभाव वे पहचान गये। उसी समय उन्होंने कथा में कहाः

चतुराई चूल्हे पड़ी, पूर पर्यो आचार।
तुलसी हरि के भजन बिन, चारों वर्ण चमार।।

कथा समाप्त हुई। अब रैदासजी को पूर्ण प्रेम से आलिंगन करने के लिए गोस्वामीजी तड़प उठे। उन्होंने ऐसे भक्तप्रवर का मानो अपमान ही किया था। वह प्रसंग उनके दिल में चुभने लगा।

महात्माओं के निश्चय अडिग हुआ करते हैं। निश्चय हो जाने के बाद वे समय खोते नहीं। गोस्वामीजी अपने सारे शिष्यों को साथ में लेकर रैदासजी से मिलने के लिए चल पड़े। इस बार भी रैदासजी उनका स्वागत करते हुए सामने दौड़े आये। तुलसीदासजी उनसे मिलने के लिए आतुर थे लेकिन रैदासजी ने दूर से ही दण्डवत् प्रणाम किया और शीघ्र ही वापस पधारने का कारण पूछा। गोस्वामीजी ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया और अपने प्यारपूर्ण बाहुपाश में रैदासजी को जकड़ने की हार्दिक आकांक्षा भी व्यक्त करते हुए वे बोलेः

"रैदासजी ! मैंने आपको नहीं पहचाना। क्षमा करना। अब एक बार आपको गले लगाना चाहता हूँ।"

रैदास जी ने हाथ जोड़कर कहाः "प्रभु ! प्रथम बार मुझमें जो प्रेमभाव उमड़ा था, वह स्वाभाविक था। अब आप कहो तो दस बार गले लगूँ लेकिन वह आनन्द नहीं आएगा। गले लगने वाला मौजूद रहेगा। उस समय मैं नहीं था, अनन्त था। तब मैं गले लगता तो बैल का रक्त

भी पावन करने वाला होता। अब मैं गंगास्नान करके भी गले लगूँगा तो भी आनन्द नहीं आयेगा। फिर जैसी आपकी मर्जी !"

एक क्रिया अपने आप स्फुरित होती है, दूसरी क्रिया की जाती है। जो होती है वह स्वाभाविक है, नैसर्गिक है। जो की जाती है, उसमें कर्त्ता आगे आ जाता है, अहं खड़ा हो जाता है, अनन्त चैतन्य तिरोहित हो जाता है।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

गीता से आत्मज्ञान पाया

प्राचीन समय में कुन्दनपुर शहर के पास गंगा किनारे ब्रह्मा, विष्णु और महेश की नगरियों के समान थोड़ी-थोड़ी दूरी पर तीन आश्रम थे। जंगल में स्थित इन आश्रमों में एक था त्यागाश्रम। वहाँ विशेष करके त्यागी लोग ही रहते थे। त्यागाश्रम में त्यागसहित ज्ञानोपदेश हुआ करता था। वहाँ से थोड़े ही दूर ऋषिआश्रम था, जहाँ ऋषि लोग यज्ञादि क्रियाएँ किया करते थे। तीसरे आश्रम में तपस्वी लोग तप, उपासना में लगे रहते थे। ये तीनों स्थान बड़े ही रमणीय थे।

पास ही एक बड़ा शहर कुन्दनपुर था। वहाँ के राजा और प्रजा धार्मिक थे, ईश्वर-प्रेमी थे। उनसे तीनों आश्रमों का निर्वाह भली प्रकार होता था। तीनों आश्रमों से किसी को भी शहर नहीं जाना पड़ता था। जिन-जिन वस्तुओं की आवश्कता होती थी, शहर के भावुक लोग प्रेम से पहुँचा दिया करते थे। कई भावुक भक्तजन प्रतिदिन दर्शन करने आश्रमों में आया करते थे और संक्रांति आदि शुभ पर्वों में वहाँ का स्थान शहरवालों से भर जाया करता था, मेला लग जाता था। तीनों आश्रमवाले अपने स्थान और अधिकार के अनुसार चेष्टा में प्रवृत्त रहते थे। तपस्वियों के स्थान में शान्ति का साम्राज्य था, ऋषियों के आश्रम में वेद की ध्वनि हुआ करती थी और यज्ञ की सुगन्ध फैलती रहती थी। त्यागियों के स्थान में महावाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन हुआ करता था। वहाँ कई ब्रह्मनिष्ठ महात्मा विराजते थे। उनके सान्निध्य से सत्त्वगुण का प्रभाव बढ़ता जाता था। इस स्थान पर रागी और त्यागी बारंबार आते-जाते रहते थे।

त्यागियों के आश्रम में आने वालों में एक पुरूष कुछ विलक्षण प्रकृति का था। उसके ऊपर ब्रह्मानन्द नाम के ब्रह्मनिष्ठ संत की विशेष कृपादृष्टि थी। ब्रह्मानन्दजी के पास धनी, प्रतिष्ठित और ओहदेदार बहुत से लोग आते थे, परन्तु एक सामान्य मनुष्य के ऊपर कृपा और स्वाभाविक प्रेम होने का कारण स्वयं ब्रह्मानन्दजी भी नहीं जानते थे।

वह आदमी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ था, गरीब था और आजीविका के लिए खेती करता था। उसके घर में उसकी स्त्री, एक पुत्र और एक पुत्री थी। गरीबी में वह अपना गुजारा करता था और सन्तुष्ट रहता था। उसकी स्त्री भी सन्तोषी थी। पुत्र-पुत्री में भी माता-पिता के सन्तोष गुण का प्रभाव पड़ा था। अतः गरीब होने पर भी वह कुटुम्ब सुखी था।

खेती से जब-जब उसे अवकाश मिलता था तब वह त्यागाश्रम आदि आश्रमों में जाया करता था। प्रणाम करके चुपचाप बैठ जाया करता था, कुछ बोलता-चालता न था। क्रियाओं को देखता और जो सुनने को होता, उसे सुना करता। उसका चित्त हमेशा प्रसन्न रहता था। यथाविधि सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी व्यावहारिक मनुष्यों के अधिक संसर्ग में नहीं आता था और व्यवहार में भी कम बोलता था। वह अपने मार्ग में ही चलने वाला सीधा-सादा मनुष्य था। वह ब्रह्मानन्दजी के पास भी आया करता था। ब्रह्मानन्द जी उसका विशेष परिचय पाना चाहते थे कि वह कुछ बोले परन्तु वह बोलता न था।

एक दिन ब्रह्मानन्दजी ने ही कहाः "हे भावुक ! मैं तेरा विशेष परिचय जानना चाहता हूँ। तेरे मुख की प्रसन्नता, तेरी सभ्यता और तेरा वस्त्रादि का पहनना मुझे विलक्षण मालूम होता है।"

वह बोलाः "स्वामी जी ! मुझमें विलक्षणता कुछ नहीं है। मैं एक गरीब राजपूत हूँ। मेरा नाम पथिकचन्द है। छोटी-सी खेती करके अपना गुजारा करता हूँ।"

ब्रह्मानन्दजी बोलेः "नहीं, नहीं.....तेरा चेहरा नहीं कहता कि तू गरीब है। गृहस्थियों में तेरी गरीबी भले विख्यात हो, परन्तु मेरी दृष्टि में तू गरीब नहीं है, श्रीमान है। ज्ञान की प्रभा तेरे मस्तक पर विराजमान है। तेरा गृहस्थ व्यवहार कैसा भी हो, वह मुझे पूछना नहीं है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि तूने कौन-कौन से शास्त्र पढ़े हैं ? तेरा निश्चय क्या है ? कौन-से पदार्थ की प्राप्ति से तुझे इस प्रकार की अखण्डित प्रसन्नता है ? मैं देखता हूँ कि राग-द्वेषवाले पदार्थों में भी तेरा चित्त विकार को नहीं प्राप्त होता है। तू मूर्ख है, ऐसा भी नहीं है। तुझमें कुछ विशेषता दिखती है। मैं पूछता हूँ, तू क्या जानता है ?"

पथिकचन्द बोलाः "महाराज ! मैं अपने मार्ग पर चल रहा हूँ। जहाँ जाना है, उसके लक्ष्य से सीधे मार्ग पर चल रहा हूँ। मार्ग के पदार्थ मुझे बाधा नहीं देते। मैं संत महात्मा नहीं हूँ, शास्त्रों का पठन भी मैंने नही किया है। जब मैं छोटा था तब हमारे यहाँ एक संत आया करते थे। उन्होंने मुझे गीता का अध्ययन कराया था और यह भी कह दिया किः "आत्मज्ञान के शास्त्रों के सिवाय और कोई पुस्तक पढ़ना नहीं। तुमने जो आत्मज्ञान मुझसे पढ़ा-समझा है, उन्ही विचारों में दृढ़ होते जाना। कभी कुछ देखा, कभी कुछ सीखा और दुनियाभर का कचरा मस्तिष्क में भरा तो आत्म-साक्षात्कार होना कठिन हो जायेगा।

गीता के उपदेश के अनुसार ही मैं अपना बर्ताव करता हूँ। पूरी गीता से मैंने जो सार ग्रहण किया, वह यह है।

मैं सब प्रकार के व्यावहारिक धर्मों के भाव से रहित होकर तन, मन और धन से ईश्वरार्पण हो चुका हूँ। किसी कार्य में भी मैं अपने को कर्त्ता-भोक्ता नहीं मानता। मैं अपनी सत्ता ईश्वर से बाहर नहीं मानता। इसीसे मैं विकाररहित हूँ। जब मैं ईश्वर से पृथक नहीं हूँ तब काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार मुझमें किस प्रकार हों ? मैं समझता हूँ कि कर्म में मेरा अधिकार

है, फल में नहीं है, क्योंकि कर्म के लिए ही मेरा शरीर पैदा हुआ है, इसलिए पूर्व-प्रारब्ध के प्रवाह के अनुसार शुद्ध बुद्धि से विचारपूर्वक शरीर से कर्म होते रहते हैं। कर्म के संस्कारों को और फल के संस्कारों को मैं अपने साथ नहीं जोड़ता। जब मैं ईश्वर से पृथक नही हूँ तो ईश्वर से पृथक कर्मफल की इच्छा मुझे किस प्रकार हो ? यह भाव हमेशा बना रहता है। कर्त्ता-भोक्ता विशेष अहंभाव टिकने नहीं देता हूँ। इसलिए शांत और प्रसन्न रहता हूँ। मुझे त्याग अथवा राग में भी अधिकता अथवा न्यूनता नहीं दिखती। यह मेरा सच्चा वृत्तान्त हैं।"

इतना सुनकर ब्रह्मानन्दजी ने अति प्रसन्न होकर स्वाभाविकता से ही पथिकचन्द को प्रणाम कर दिया। पथिकचन्द पीछे हटते हुए विनयपूर्वक बोलाः "महाराज जी ! व्यवहार-दृष्टि से आपका यह कार्य उचित नहीं कहा जा सकता।"

ब्रह्मानन्दजी बोलेः "भाई ! व्यावहारिक दृष्टि से मुझे क्या ? गृहस्थ दिखते हुए भी तुम्हारी ब्रह्मनिष्ठा मुझ त्यागी से अधिक प्रबल है। तुम श्रीमदभगवदगीतामय बन गये हो। जब तुम्हें गीता प्रिय है तो गीता की प्रत्यक्ष मूर्ति तुम मुझे प्रिय क्यों न हो ? यह तो होना ही चाहिए।"

वाह वाह ! श्रीमदभगवदगीता तो गीता ही है ! जिसने गीता के रहस्य को जान लिया वह कृतार्थ हुआ।

योगेश्वरी माता गीता के लिए इंग्लैंड के एक विदेशी विद्वान एफ. एच. मोलेम कहते हैं-

"बाईबल का मैंने यथार्थ अभ्यास किया है। उसमें जो लिखा है वह केवल गीता के साररूप में ही है। जो ज्ञान गीता में है, वह ईसाई या यहूदी बाईबल में नहीं है।

मुझे यही आश्चर्य होता है कि भारतीय नवयुवक यहाँ इंगलैण्ड तक पदार्थ विज्ञान सीखने क्यों आते हैं ? निःसन्देह पाश्चात्यों के प्रति उनका मोह ही इसका कारण है। उनके भोलेभाले हृदयों ने अभी निर्दय और अविनम्र पश्चिमवासियों के दिल पहचाने नहीं हैं। इसीलिए उनकी शिक्षा से मिलने वाले पदों की लालच से वे उन स्वार्थियों के इन्द्रजाल में फँसते हैं। अन्यथा तो, जिस देश या समाज को गुलामी से छूटना हो उसके लिए तो यह अधोगति का ही मार्ग है।

मैं ईसाई होते हुए भी गीता के प्रति इतना आदर-मान इसलिए रखता हूँ कि जिन गूढ प्रश्नों का हल पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी तक नहीं कर पाये उनका हल इस गीता ग्रंथ ने शुद्ध और सरल रीति से दे दिया है। गीता में कितने ही सूत्र अलौकिक उपदेशों से भरपूर देखे। इसी कारण मेरे लिए गीता जी साक्षात् योगेश्वरी माता बन रही हैं। विश्वरभर के सारे धन से भी न मिल सके, यह भारतवर्ष का ऐसा एक अमूल्य खजाना है।"

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

पाँच आश्चर्य

महाभारत का युद्ध पूरा हुआ। पाण्डव विजयी हुए। कौरवों का संहार हुआ। भगवान श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहाः

"धर्मराज ! युद्ध पूरा हुआ है। धर्म कि विजय हुई है। अधर्मियों का नाश हुआ है। अब तुम राज्याभिषेक की तैयारी करो। राज्य की बागडोर सँभालो।"

युधिष्ठिर ने कहाः "प्रभु ! हजारों-लाखों क्षत्रिय युवकों का रक्त बहा है। अपने कितने ही स्वजन इस युद्ध में स्वाहा हो गये हैं। अब मुझे वैराग्य आ गया है। राजगद्दी पर बैठना मुझे रूचता नहीं। सोचता हूँः कुछ दिन के लिए गंगा किनारे चला जाऊँ। एकान्त में रहकर तपस्या करूँ, ध्यान-भजन करूँ, प्रायश्चित करके अपने कल्मष धोऊँ। निर्मल होकर आऊँ फिर शांति से राज्य करूँ।"

श्रीकृष्ण मुस्कुराये। बोलेः "पाण्डुपुत्र ! फिर तुम शांति से राज्य नहीं कर सकते क्योंकि अब कलियुग का प्रवेश हो रहा है। उसके लक्षणों की झाँकी करनी हो तो तुम पाँचों भाई भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमने चले जाओ। वहाँ पाँचों को कुछ-न-कुछ अलग-अलग आश्चर्य दिखेंगे। जाकर आओ। शाम को इसके बारे में बात करेंगे।"

पाँचों पाण्डव घूमने चले गये।

युधिष्ठिर ने देखा कि एक हाथी खड़ा है। उसकी दो सूँड है। आश्चर्य ! दो सूँडवाला हाथी ! देखकर धर्मराज दंग रह गये।

अर्जुन ने दूसरा आश्चर्य देखा। उत्तर दिशा में एक पक्षी है। उसके पंख पर वेद के मंत्र और धर्म की गाथाएँ लिखी हैं, लेकिन वह पक्षी मुर्दे का मांस खा रहा है।

भीम ने तीसरा आश्चर्य देखा। एक गाय अपनी नवजात बछड़ी को इस प्रकार चाट रही है कि बछड़ी लहूलुहान हो रही है। फिर भी गाय चाटना छोड़ती नहीं।

सहदेव ने चौथा आश्चर्य देखा। पाँच-छः कुएँ हैं। इर्दगिर्द के सभी कुओं में छलोछल पानी भरा है और बीचवाला कुआँ बिल्कुल खाली है।

नकुल ने पाँचवाँ आश्चर्य देखा। एक पहाड़ से चट्टान गिर रही है। पेड़ों से टकराई लेकिन रूकी नहीं। दूसरी चट्टानों से आ लगी, लेकिन वे उसे रोक नहीं पाईं।आखिर वह चट्टान लुढ़कती-लुढ़कती नीचे आते-आते एक तिनके के सहारे रूक गई। जिसे पेड़ न थाम सके, चट्टानें न थाम सकीं उसे एक छोटे-से तिनके ने थाम लिया। बड़ा आश्चर्य !

पाँचों भाई इस प्रकार पाँच आश्चर्य देखकर शाम को श्रीकृष्ण के पास आये और अपनी-अपनी बात बताई। युधिष्ठिर के द्वारा देखे गये दो सूँडवाले हाथी के बारे में बताते हुए श्रीकृष्ण बोलेः

"दो सूँडवाला हाथी माने कलियुग में दोनों तरफ से शोषण करने वाले शासक होंगे। दूसरा आश्चर्य कि पक्षी के पंख पर शास्त्र लिखे हों और वह पक्षी मुर्दे का मांस खा रहा हो। इसका मतलब है कि कलियुग में मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि शास्त्र की बातें करनेवाले बहुत लोग होंगे, लेकिन वे मुर्दे विषयों की कामनावाले ज्यादा होंगे।

तीसरा आश्चर्य कि गाय अपनी बछड़ी को चाट-चाटकर लहूलुहान कर रही थी अर्थात् कलियुग में आदमी पुत्र-परिवार को इतना मोह करेगा, इतनी ममता करेगा कि बच्चे अपने पैरों पर खड़े हो जायें, अपने आत्मविश्वास में टिक जायें, ऐसी योग्यता ही नष्ट कर देगा। बच्चों को जरा छोड़ देना चाहिए, उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने देना चाहिए। मोह-ममता करके उनका जितना अधिक लालन-पालन करोगे, ऐश-आराम में रखोगे, उतनी ही उनकी जीवन-शक्ति कुण्ठित रह जाएगी।

चौथा आश्चर्य कि चारों ओर के कुओं में पानी और बीच का कुआँ खाली। इसका मतलब यह है कि कलियुग के धनवान, वैभववान, सत्तावान, साधन-सम्पन्न श्रीमान् लोग शादी-ब्याह, पार्टियों में लाखों रूपये खर्च कर डालेंगे लेकिन पड़ोस में ही कोई दीन-दुखिया रहता हो, अस्त-व्यस्त जीवन बिता रहा हो, भूखा-प्यासा दिन काट रहा हो तो उसके घर में सहयोग करने की बात नहीं सोचेंगे, सहायरूप नहीं बनेंगे। दिखावे में तो लाखों रूपये फूँक मारेंगे लेकिन बुझते हुए जीवनदीप में तेल नहीं डालेंगे। अपनी घर की दीवाली तो सब मनाते हैं, लेकिन कभी-कभी साधनों से रहित पड़ोसियों के घर में भी दीवाली मनाना चाहिए। उनके बच्चों से स्नेहकरना चाहिए, उनको मिठाई खिलाना चाहिए, आर्थिक सहाय करना चाहिए।

पाँचवाँ आश्चर्य यह था कि पहाड़ों से चट्टान गिरी जिसको बड़े-बड़े पेड़ न थाम सके, दूसरी चट्टाने न थाम सकीं और घास के छोटे से तिनके ने थाम लिया। इसका मतलब यह है कि कलियुग में आदमी के पास धन और सत्ता की व्यवस्था होगी फिर भी उसका पतन धन या सत्ता से रूकेगा नहीं। उसका मन नीचे के केन्द्रों में गिरता रहेगा। धन के ढेर उसे थाम नहीं सकेंगे, सत्ता का प्रभाव उसे थाम नहीं सकेगा, लेकिन रामनाम का छोटा-सा तिनका भी गिरते हुए मन को थाम लेगा।"

ईश्वर-नाम संकीर्तन की बड़ी महिमा है ! कीर्तन करते-करते फिर थोड़ी देर शान्त हो जाना चाहिए। जप करते-करते उसके अर्थ में लीन हो जाना चाहिए। सत्संग की पुस्तक पढ़ते-पढ़ते आनन्द आ जाये तो पढ़ना रोक दो, जप करना रोक दो और आनन्दस्वरूप ईश्वर में खो जाओ, अपने आत्मस्वरूप में गोता मारो।

रात्रि को सोते समय भी कोई अच्छी पुस्तक पढ़कर सोओ। तुम्हारे अचेतन मन में आत्मरस आयेगा। सत्संग-ध्यान की कैसेट सुनते-सुनते सो जाओ, तुम्हारी निद्रा योगनिद्रा में बदलने लगेगी। जीवन मधुर और सुख शांति से समृद्ध होने लगेगा।

सुबह उठते ही सदा उम्दा विचार करो। हम लोग तो दूसरों की चीजों को देखकर ईर्ष्या करते हैं और ऐसी चीजें हमारे पास आ जायें..... ऐसी कामना करते हैं। अरे भोले महेश ! प्रारब्ध में होगा और पुरूषार्थ जुड़ेगा तो वे नश्वर चीजें आकर ही रहेंगी। तू उनकी चिन्ता और कामना मत कर। तू तो अपने आपमें ही डट जा।

मानव ! तुझे नहीं याद क्या ? तू ब्रह्म का ही अंश है।
कुल गोत्र तेरा ब्रह्म है, सदब्रह्म तेरा वंश है।।
चैतन्य है तू अज अमल है, सहज ही सुखराशि है।
जन्मे नहीं मरता नहीं, कूटस्थ है अविनाशी है।।

जो आध्यात्मिक उन्नति करता है, उसकी भौतिक उन्नति सहज में होने लगती है। सुख भीतर की चीज है और भौतिक चीज बाहर की है। सुख और भौतिक चीजों में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

दरिद्र कौन है ? जो दूसरों से सुख चाहता है, वह दरिद्र है। मूर्ख कौन है ? जो इस संसार को सत्य मानकर उस पर विश्वास करता है, वह मूर्ख है। संसार के स्वामी जगदीश्वर को नहीं खोजता है, वह महामूर्ख है।

अपनी मनोवांछित इच्छाओं के मुताबिक काम्य पदार्थ पाकर जो सुखी होना चाहता है वह सुख और विघ्न-बाधाओं के बीच दुःखी होते-होते जीवन पूरा कर देता है।

समय बीत जायेगा और काम अधूरा रह जायेगा। आखिर पश्चाताप हाथ लगेगा। उससे पहले ईश्वर के राह की यात्रा शुरू कर दो। रात्रि में चलते-चलते ठोकरें खानी पड़े, इससे अच्छा है कि दिन-दहाड़े चल लो । बुढ़ापा आ जाय, बुद्धि क्षीण हो जाय, इन्द्रियाँ कमजोर हो जायें, देह काँपने लगे, कुटुम्बीजन मुँह मोड़ लें, लोग अर्थी में बाँधकर 'राम बोलो भाई राम...' करते हुए श्मशान में ले जायें उससे पहले अपने आपको शाश्वत में पहुँचा दो तो बेड़ा पार हो जाय।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आठ पापों का घड़ा

एक बार कवि कालिदास बाजार में घूमने निकले। एक महिला घड़ा और कुछ कटोरियाँ लेकर बैठी थी ग्राहकों के इंतजार में । कविराज को कौतूहल हुआ कि यह महिला क्या बेचती है ! पास जाकर पूछाः

"बहन ! तुम क्या बेचती हो ?"

"मैं पाप बेचती हूँ। मैं स्वयं लोगों से कहती हूँ कि मेरे पास पाप हैं, मर्जी हो तो ले लो। फिर भी लोग चाहपूर्वक पाप ले जाते हैं।" महिला ने कुछ अजीब सी बात कही। कालिदास उलझन में पड़ गये। पूछाः

"घड़े में कोई पाप होता है ?"

"हाँ... हाँ.... होता है, जरूर होता है। देखो जी, मेरे इस घड़े में आठ पाप भरे हुए हैं: बुद्धिनाश, पागलपन, लड़ाई-झगड़े, बेहोशी, विवेक का नाश, सदगुण का नाश, सुखों का अन्त और नरक में ले जाने वाले तमाम दुष्कृत्य।"

"अरे बहन ! इतने सारे पाप बताती है, तो आखिर है क्या तेरे घड़े में ? स्पष्टता से बता तो कुछ समझ में आवे।" कालिदास की उत्सुकता बढ़ रही थी।

वह महिला बोलीः "शराब ! शराब !! शराब !!! यह शराब ही उन सब पापों की जननी है। जो शराब पीता है वह उन आठों पापों का शिकार बनता है।"

कालिदास उस महिला की चतुराई पर खुश हो गये।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

सत्संग-महिमा

एक था मजदूर। मजदूर तो था, साथ-ही-साथ किसी संत महात्मा का प्यारा भी था। सत्संग का प्रेमी था। उसने शपथ खाई थीः "मैं उसी का बोझ उठाऊँगा, उसी की मजदूरी करूँगा, जो सत्संग सुने अथवा मुझे सुनाये।' प्रारम्भ में ही यह शर्त रख देता था। जो सहमत होता, उसका काम करता।

एक बार कोई सेठ आया तो इस मजदूर ने उसका सामान उठाया और सेठ के साथ वह चलने लगा। जल्दी-जल्दी में शर्त की बात करना भूल गया। आधा रास्ता कट गया तो बात याद आ गई। उसने सामान रख दिया और सेठ से बोलाः

"सेठ जी ! मेरा नियम है कि मैं उन्हीं का सामान उठाऊँगा, जो कथा सुनावें या सुनें। अतः आप मुझे सुनाओ या सुनो।"

सेठ को जरा जल्दी थी। वह बोलाः "तुम ही सुनाओ।"

मजदूर के वेश में छुपे हुए सतं की वाक्धारा बह चली। मार्ग तय होता गया। सेठ के घर पहुँचे तो सेठ ने मजदूरी के पैसे दे दिये। मजदूर ने पूछाः

"क्यों सेठजी ! सत्संग याद रहा ?"

"हमने तो कुछ सुना नहीं। हमको तो जल्दी थी और आधे रास्ते में दूसरा कहाँ ढूँढने जाऊँ ? इसलिए शर्त मान ली और ऐसे ही 'हाँ... हूँ.....' करता आया। हमको तो काम से मतलब था, कथा से नहीं।"

भक्त मजदूर ने सोचा कि कैसा अभागा है ! मुफ्त में सत्संग मिल रहा था और सुना नहीं ! यह पापी मनुष्य की पहचान है।

तुलसी पूर्व के पाप से हरिचर्चा नहीं सुहाय।
जैसे ज्वर के जोर से भूख विदा हो जाय।।

वह जमाना था कि राजा लोग राजपाट छोड़कर गिरि-गुफाओं में गुरूओं को खोजकर उनके सत्संग का लाभ उठाया करते थे।

भक्त को बड़ा आश्चर्य हुआ ! उसने भीतर गोता मारा। जहाँ से विश्वभर के बलवानों को बल मिलता है, धनवानों को धन सँभालने की योग्यता मिलती है, बुद्धिमानों को बौद्धिक योग्यता मिलती है उस खजाने में गोता लगाया। फिर सेठ की ओर देखा.... गहरी साँस ली और कहाः

"सेठ ! कल शाम को सात बजे आप सदा के लिए इस दुनिया से विदा हो जाओगे। अगर साढ़े सात बजे तक जीवित रहें तो मेरा सिर कटवा देना।"

सेठ काँपने लगा। भक्त की वाणी में ओज था। सेठ भक्त की सच्चाई समझ गया..... पैर पकड़ लिया। भक्त ने कहाः

"सेठ ! जब आप यमपुरी में जाएँगे तब आपके पास और पुण्य का लेखा जोखा होगा, हिसाब देखा जाएगा। आपके जीवन में पाप ज्यादा हैं, पुण्य कम हैं। अभी रास्ते में जो सत्संग सुना, थोड़ा बहुत उसका पुण्य भी होगा। आपसे पूछा जायेगा कि कौन सा फल पहले भोगना है ? पाप का या पुण्य का ?.....तो यमराज के आगे स्वीकार कर लेना कि पाप का फल भोगने को तैयार हूँ, पर पुण्य का फल भोगना नहीं है, देखना है। पुण्य का फल भोगने की इच्छा मत रखना।

जीवन में सुखी रहना है तो दूसरों की की हुई बुराई और अपनी की हुई भलाई को भूल जाओ। आप सुखी हो जाओगे। हमें अपनी गलती होती है तो गुस्सा नहीं आता, लेकिन दूसरों की गलती देखकर गुस्सा आता। दूसरों में भी अपना-आप दिख जाये तो बेड़ा पार हो जाय।

सेठ पहुँचे यमपुरी में। चित्रगुप्त ने हिसाब पेश किया। यमराज के पूछने पर सेठ ने कहाः "मैं पुण्य का फल भोगना नहीं चाहता और पाप का फल भोगने से इन्कार नहीं करता। कृपा करके बताइये कि सत्संग के पुण्य का फल क्या होता है ? मैं वह देखना चाहता हूँ।"

पुण्य का फल देखने की तो कोई व्यवस्था यमपुरी में नहीं थी। पाप-पुण्य के फल भुगताए जाते हैं, दिखाये नहीं जाते। यमराज को कुछ समझ में नहीं आया। ऐसा मामला तो यमपुरी में पहली बार आया था। यमराज उसे ले गये इन्द्र के पास। इन्द्र ने कहाः "पुण्य का फल तो भुगतवाया जाता है, दिखाया नहीं जाता।"

सेठ बोलाः "नहीं सत्संग के पुण्य का फल मैं भोगना नहीं चाहता, सिर्फ देखना चाहता हूँ।"

इन्द्र भी उलझन में पड़ गये। चित्रगुप्त, यमराज और इन्द्र तीनों सेठ को ले गये भगवान आदि नारायण के समक्ष। इन्द्र ने पूरा वर्णन किया। भगवान मंद-मंद मुस्कुराने लगे। तीनों से बोलेः "ठीक है, जाओ..... अपना-अपना काम सँभालो।"

सेठ को सामने खड़ा रहने दिया। सेठ बोलाः "प्रभो ! मुझे सत्संग के पुण्य का फल भोगना नहीं है, अपितु देखना है।"

प्रभु बोलेः "चित्रगुप्त, यमराज और इन्द्र जैसे देव आदरसहित तुझे यहाँ ले आये और तू मुझे साक्षात देख रहा है, इससे अधिक और क्या देखना है ?"

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
तुलसी सत्संग साध की, हरे कोटि अपराध।।

जो चार कदम चलकर ब्रह्मज्ञान के सत्संग में जाता है, तो यमराज की भी ताकत नहीं उसे हाथ लगाने की। ब्रह्मज्ञान का सत्संग-श्रवण इतना महान है !

ऐसा सत्संग सुनने से पाप-ताप कम हो जाते हैं। पाप करने की रूचि भी कम हो जाती है। सत्संग से बल बढ़ता है। सारी दुर्बलताएँ दूर होने लगती हैं।

तुलसीदास जी को जब पत्नी ने ताना मरा, तब उनका वैराग्य जग आया। वे भगवान से प्रार्थना करने लगेः

"हे प्रभो ! मैं तेरा भक्त बनने का अधिकारी नहीं हूँ, क्योंकि मैं कुटिल हूँ, कामी हूँ, खल हूँ। मैं तेरे भक्त का सेवक ही बन जाऊं। सेवक भी न बन पाऊँ तो भक्त के घर की गाय ही बना देना स्वामी ! तेरे सेवक तक मेरा दूध पहुँचेगा तब भी मेरा कल्याण हो जाएगा। गाय बनने की योग्यता भी नहीं हो तो तेरे भक्त के घर का घोड़ा बनूँ। तेरी चर्चा होगी, वहाँ आने-जाने में मेरा उपयोग होगा तब भी मैं धन्य हो जाऊँगा। घोड़ा बनने की भी पुण्याई नहीं तो मुझे उसके घर का कुत्ता ही बना देना नाथ ! उसके हाथ का रूखा-सूखा टुकड़ा भी मिल जायेगा तो मैं पवित्र हो जाऊँगा और तेरी भक्ति भी हो जाएगी।"

तुलसीदासजी ने सच्चे हृदय से भगवान से प्रार्थना की। भगवान से नाता जुड़ गया। अन्तर्मुखता बढ़ी तो भगवान ने उनको तुलसीदास से भक्त कवि संत तुलसीदास बना दिया।

तुलसी तुलसी क्या करो, तुलसी बन की घास।
कृपा भयी रघुनाथ की, तो हो गये तुलसीदास।।

भगवान को अपना मानना और अपने को भगवान का मानना यह अन्तर्मुखता है। व्रत करने से, तप करने से, तीर्थाटन करने से जो लाभ होता है, उससे कई गुना लाभ भगवान से अपनेपन की भावना से होता है। ईश्वर आपका है और आप ईश्वर के हैं, यह दृढ़ भावना रखिये। जीवन में इस बात को चरितार्थ कर लीजिए, बेड़ा पार हो जायेगा।

परमात्मा सर्वत्र है, सुलभ हैं, लेकिन ऐसे परमात्मा का अनुभव करानेवाले महात्मा दुर्लभ हैं। ऐसे महात्मा का संग मिल जाय तो जीवन में रंग आ जाये।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

विधेयात्मक जीवनदृष्टि

एक बार संत एकनाथ, संत तुकाराम और भक्त कवि नरसिंह मेहता विठोबा के दर्शनार्थ पंढरपुर के मंदिर में पहुँचे। तुकारामजी मंदिर में प्रविष्ट हो रहे थे, तब एकनाथजी दर्शन करके बाहर निकल रहे थे। वे अभी भगवान से प्रार्थना करके आये थे, धन्यवाद देकर आये थेः

"हे प्रभु ! तूने मुझे अनुकूल धर्मपत्नी दी है इसीलिए मैं तेरी भक्ति कर सकता हूँ। तेरा कैसा उपकार है नाथ ! तू ऐसी पत्नी न देता तो मैं कैसे तेरी भक्ति कर सकता ? वाह प्रभु ! तेरी करूणा का कोई पार नहीं।"

एकनाथजी बाहर निकले तो तुकारामजी भगवान के समक्ष पहुँचे। उनके सान्निध्य में खड़े रहे। एकटक नयनों से भगवान के नयनमनोहर मुखारविन्द को निहार रहे थे। आँखों से आँसू बह रहे थे। हृदय में भक्तिभाव उमड़ रहा था। हाथ जोड़कर गदगद कण्ठ होकर भगवान से प्रार्थना कर रहे थेः

"वाह मेरे विट्ठल ! क्या तेरी करूणा है ! तूने मुझे ऐसी कर्कशा और झगड़ालू पत्नी देकर मुझ पर कितना महान् उपकार किया है ! यदि ऐसी पत्नी तू न देता तो मैं तेरी भक्ति कैसे करता ? मुझे अनुकूल और सुन्दर पत्नी देता तो शायद मैं उसी की भक्ति में लग जाता। शायद उसी के मोहपाश में फँसकर जीवन को बरबाद करता। तू कितना दयानिधि है ! हे कृपासिन्धो ! मुझे कर्कशा नारी पत्नी के रूप में देकर तूने मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। मेरा चित्त पत्नी में न उलझकर निरन्तर तेरे स्मरण में मधुर हो रहा है। वाह प्रभु ! प्रतिकूल पत्नी के कारण ही मैं अपने प्यारे विट्ठल की भक्ति कर सकता हूँ। खूब-खूब धन्यवाद प्रभो !"

तुकारामजी बाहर आये और नरसिंह मेहता पहुँचे श्रीविग्रह के समक्ष। भगवान के दर्शन करके नयन पुलकित हो उठे। चरणों में सिर झुकाया। फिर भावविभोर होकर तन-मन थिरकाते हुए नृत्य करने लगे। हाथ में करताल ताल दे रही थी। कण्ठ से मधुर गीत निकल रहा थाः

भलुं थयुं भांगी जंजाळ.... सुखे भजीशुं श्रीगोपाळ।

नरसिंह मेहता की पत्नी का देहावसान हो चुका था। भक्तराज उस घटना को भांगी जंजाल मानते हैं। वे विठोबा से प्रार्थना करने लगेः

हे श्रीहरि ! पत्नी चल बसी, अच्छा हुआ। अब सांसारिक जिम्मेदारियों से मुक्त होकर अधिक आनन्दपूर्वक तेरी भक्ति में निमग्न हो सकूँगा। मेरे संसार की खटपट तूने दूर कर दी, बड़ा उपकार किया दीनानाथ !"

एकनाथ जी की पत्नी अनुकूल थी।

तुकाराम जी की पत्नी प्रतिकूल थी।

नरसिंह मेहता की पत्नी चल बसी थी।

तीनों ने इन तीनों अलग-अलग परिस्थितियों में ईश्वर की कृपा का ही अनुभव किया। मन में शांति और सम्पूर्ण सन्तोष धारण किया। चंचल मन को ईश्वरदत्त कैसी भी परिस्थिति में शांत रखना यह भी जीवन का एक महान् कार्य है। तीनों संत-महापुरूषों के जीवन में यह चरितार्थ हुआ है।

बाहर की भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ तो आती रहेंगी, जाती रहेंगी। तुम अपनी दृष्टि विधेयात्मक बनाते हो, धन्यवादात्मक बनाते हो तो हर परिस्थिति में तुम सम और सुखी रह सकते हो.... आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हो।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

तीन दुर्लभ चीजें

किं दुर्लभं सदगुरूरस्ति लोके
सत्संगतिरब्रह्मविचारणा च।
त्यागो हि सर्वस्य निजात्मबोधः
किं दुर्जयं सर्वजनैर्मनोजः।।

'जगत में दुर्लभ क्या है ? सदगुरू, सत्संगति और ब्रह्मविचार। सबके त्याग का हेतु क्या है ? अपनी आत्मा का बोध। सब मनुष्यों से जीता न जाये वह कौन है ? मनोज अर्थात् काम।'

(मणिरत्नमाला)

जगत में जिस पदार्थ की प्राप्ति इच्छा करे और उसके लिए योग्य प्रयत्न करे तो वह पदार्थ मिल सकता है परन्तु जगत में बहुत कठिनाई से मिलने वाला, हर किसी को प्राप्त नहीं होता ऐसा पदार्थ कौन सा है ? सदगुरू, सत्संगति और ब्रह्मविचार।

जगत में सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति सहज में होना संभव है, परन्तु ये तीन पदार्थ जगत में होते हुए भी जगतके लौकिक भाव से भिन्न हैं इसलिए जगत में जन्म लेनेवालों को ये तीनों कठिनाई से प्राप्त होते हैं। सदगुरू, सत्संगति और ब्रह्मविचार जगत में होते हुए जगत के बाहर के तत्त्व से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। ये तीनों केवल इस जगत में ही प्राप्त होने दुर्लभ हों, ऐसा नहीं है किन्तु तीनों लोकों में प्राप्त होने कठिन हैं क्योंकि जिस पर आत्मकृपा हुई उसे ही गुरू और गुरूकृपा की प्राप्ति होती है। निर्मल और तीव्र बुद्धि के बिना आत्मविचार नहीं हो सकता। ये सब संयोग प्राप्त होने कठिन हैं।

जो सच्चे मार्ग को दिखलावें, अज्ञान-अन्धकार को दूर करें, वे सदगुरू हैं। जिससे सत् का संग हो वह सत्संगति है, चाहे वह इशारे से हो, चेष्टा से हो अथवा कथन से हो। सच्चिदानंदरूप जो ब्रह्म है, जिसे शास्त्र में अचिन्तनीय कहा है, जिसका विचार-चिन्तन करना अत्यन्त कठिन है, जो अलौकिक है, उसके विचार को ब्रह्मविचार कहते हैं।

कोई कहेगाः "गुरू का मिलना कठिन ही क्या है ? हमको गुरू मिले हैं। हम ब्रह्मविचार करते हैं।'

ऐसा कथन करने वाले भले अपने मन से मान लें, उनको रोकने वाला कौन है ? लेकिन सदगुरू की प्राप्ति और ब्रह्मविचार का होना कोई सामान्य बात नही है, बच्चों का खेल नहीं है। जब सदगुरू की प्राप्ति हो और शिष्य शिष्य-भाव के लक्षणों से युक्त हो, तब परम पद की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। मात्र कण्ठी बाँधनेवाला अथवा मात्र वेशधारी सदगुरू नहीं होता। शास्त्र में सदगुरू के लक्षण बताते हुए कहा हैः

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षीभूतम्
भावातीतं त्रिगुणरहितं सदगुरूं तं नमामि।।

'जो स्वयं ब्रह्मानन्दस्वरूप हैं, परम सुख देने वाले हैं, ज्ञान की मूर्ति हैं, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप है, **'तत्त्वमसि'** महावाक्यों से जाने जा सकें ऐसे गूढ हैं, नित्य हैं, विमल हैं, अचल हैं, निरन्तर साक्षीरूप हैं, कल्पना में न आवें ऐसे हैं, तीनों गुणों से परे हैं, वे ही सदगुरू हैं। ऐसे गुरू भाग्यवश ही प्राप्त होते हैं।

ऊपर से धर्म के ठेकेदार बने हुए बहुत हैं। वे स्वयं नरक में जाते हैं और समाज को भी नरक में पटकते हैं। इसलिए जो पगारवालों को रखकर पंथ चला रहे हैं, सनातन धर्म में घुन की नाईं लगे हुए हैं ऐसे पाखण्डियों से बचना चाहिए। दंभी, ढोंगी और विधर्मियों के कुप्रचार के जाल में नहीं फँसना चाहिए।

जब शुद्ध ज्ञानवान समदर्शी सदगुरू से उपदेश लिया जाता है तभी ब्रह्मविचार हो सकता है। साधक स्वयं यदि अधिकारी नहीं होगा, तो शुद्ध गुरू से भी पूरा लाभ नहीं ले पायेगा।

सदगुरू से शास्त्र-श्रवण करना, सत्पुरूषों का समागम करना और उनसे बोध लेना, संसार में निरन्तर वैराग्य की दृष्टि रखना, जिसमें सत् तत्त्व का संग हो ऐसी सत्संगति करना और ब्रह्मविचार करना....... मनुष्य जन्म का सबसे विशेष कर्त्तव्य यही है।

आत्मा-अनात्मा का विचार करके ब्रह्मस्वरूप को जानना, श्रवण, मनन और निदिध्यासन में मग्न रहना, यह ब्रह्मविचार है। ब्रह्मविचार मृत्युलोक के सिवाय अन्य किसी लोक में नहीं हो सकता। अतः अपने कल्याण के लिए मनुष्य को ऐसा दुर्लभ ब्रह्मविचार अवश्य करना चाहिए।

बहुत देशों की भाषाएँ सीखने से, शास्त्रों के ज्ञान से, व्यवहार की कुशलता से अथवा बहुत शब्दों के ज्ञान से तत्त्वज्ञान नहीं होता, किन्तु अनुभवसहित जो तत्त्वबोध है वही यथार्थ तत्त्वज्ञान है। यदि जानने से ही ज्ञान होता हो तो अठारह पुराणों के कर्त्ता महात्मा श्री वेदव्यासजी को अपनी विद्या के ज्ञान से ही निश्चिंतता प्राप्त हो जाती। परन्तु उन्हें जब देवर्षि नारदजी से बोध प्राप्त हुआ तभी वे पूर्णता को प्राप्त हुए।

जब तक ईश्वर का अनुग्रह नही होता, तब तक सदगुरू और सत्शास्त्र नहीं मिलते। जब तक आत्मकृपा नहीं होती, तब तक ईश्वर का अनुग्रह नहीं होता। सत् की खोज और जगत की नश्वरता के विचार के बिना आत्मकृपा नहीं होती।

आरोग्यता पा लेना दुर्लभ नहीं, बुद्धिमता पा लेना दुर्लभ नहीं। दुर्लभ तो वे हैं जो सत् का बोध करा दें।

जगत का बोध करा दें ऐसे कई लोग मिलेंगे लेकिन जगदीश्वर तत्त्व का बोध करा दें ऐसे सदगुरू की प्राप्ति दुर्लभ है। लोक-लोकान्तर, स्वर्ग या वैकुण्ठ की प्राप्ति नहीं लेकिन अपने आपका बोध करा दें ऐसे आत्मवेत्ता सदगुरू की प्राप्ति दुर्लभ है।

दूसरी दुर्लभ चीज है सत्संगति। जिन वस्तुओं से, जिन चेष्टाओं से, जिन संकेतों से, ध्यान से, विचार से हम सत् की नजदीक जायें वे चीजें मिलनी दुर्लभ हैं। ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मवेत्ता को समझने वाले दुर्लभ हैं। पतन की तरफ जाने की चीजें तो बड़ी आसानी से मिलती हैं।

शारीरिक बीमारियाँ दूर करने के लिए तो कई औषधालय या दवाखाने, अस्पताल, आपरेशन थियेटर आदि हैं। लेकिन इन व्याधियों का मूल है आधि। आधि मन को होती है, व्याधि तन को होती है। मन जब नीचे के केन्द्रों में होता है, तुच्छ होता है तब खाने की लालच, भोगने की लालच करके बिनजरूरी व्याधियों को अनजाने में ही आमंत्रित कर लेता है। व्याधि निवृत्त करने के बहुत साधन हैं हम लोगों के पास लेकिन आधि दूर करने के लिए इतने साधन नहीं हैं।

आधि, व्याधि और उपाधि, इन तीनों रोगों को निवृत्त कर दे, ऐसी सत्संगति प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है।

सत्संगति की प्राप्ति हो जाय, सत्संग मिल जाय लेकिन उस सत्संग में ब्रह्मविचार होना अत्यंत दुर्लभ है। लोक-लोकान्तर के विचार, स्वर्ग-नरक के विचार, पाप-पुण्य के विचार तो सत्संग में हो ही जाते हैं, लेकिन इन सबको बाधित करके ब्रह्मविचार हो, ऐसे सत्संग की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है। सज्जनों का विचार, शूरवीरों का विचार, त्यागी-तपस्वियों का विचार, सदाचारी और श्रेष्ठ पुरूषों का विचार.... ये तो सत्संगों में, कथाओं में, कहानियों में आता है लेकिन ऐसा सत्संग दुर्लभ है जिस सत्संग में ब्रह्म-परमात्मा का विचार हो। परमात्मा के श्रीविग्रह की लीला, परमात्मा के अवतारों का वर्णन, सृष्टि के क्रम का वर्णन, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का वर्णन, ये सब ठीक हैं, लेकिन जो ब्रह्मविचारवाला सत्संग है, वह मिलना दुर्लभ है।

ब्रह्मविचार-प्रधान जो सत्संग है, वह सत्संग जैसे-तैसे नहीं मिलता। अनधिकारी आदमी उस सत्संग में बैठ नहीं सकता। जिसका जप, तप, सेवा, पूजा, कुछ-न-कुछ उस अन्तर्यामी परमात्मा को, ईश्वर को स्वीकार हो गया है वही आदमी सदगुरू की प्राप्ति कर सकता है, सत्संगति की प्राप्ति कर सकता है। अन्यथा उसको कथा अथवा कहानियाँ, चुटकुले ही मिलकर रह

जाएँगे। कथा-वार्ता तो साधारण आदमी को भी मिल जाती है। लेकिन सत्स्वरूप परमात्मा का संग हो जाये, बोध हो जाय ऐसा सत्संग मिलना दुर्लभ है।

व्याख्यानदाता बन जाना बड़ी बात नहीं, जगत में सबसे बड़ा धनवान बन जाना बड़ी बात नहीं, बड़ी-में-बड़ी सत्ता का अधिकारी बन जाना बड़ी बात नहीं, स्वर्ग का राजा बनना भी बड़ी बात नहीं, लेकिन आत्म-साक्षात्कार कर लेना सबसे बड़ी बात है। आत्म-साक्षात्कार जैसी ऊँची कोई चीज नहीं। यहाँ तक कि भगवान के साथ खेलना भी बड़ी बात नहीं। मंदिर में जाओ और ठाकुरजी प्रकट हो जायें – यहाँ तक भी कोई पहुँच जाय फिर भी जब तक ब्रह्मविचार नही होगा, तब तक भगवत्तत्व का साक्षात्कार नहीं होगा। मंदिर के भगवान आयेंगे और फिर अदृश्य हो जायेंगे, लेकिन सर्वव्यापी हरि का दीदार नहीं होगा।

ब्रह्मविद्या ऐसी है कि युद्ध के मैदान में भी प्रकट हो सकती है, राज्य के तख्त पर भी प्रकट हो सकती है और शादी की तैयारी के वक्त भी प्रकट हो सकती है। युद्ध के मैदान में अर्जुन के आगे यह ब्रह्मविद्या प्रकट हुई और काम-काज में व्यस्त जनक के आगे भी इस ब्रह्मविद्या ने चमत्कार दिखा दिया।

'श्रीयोगवाशिष्ठ महारामायण' का प्राकटय कैसे हुआ ? भगवान श्रीरामचन्द्रजी सोलह वर्ष के हुए, संसार में प्रविष्ट होने के करीब हुए उस समय युवावस्था में ब्रह्मविचार उत्पन्न हुआ। इस ब्रह्मविचार के लिए, इस सत्संगति के लिए, इस साधु-समागम के लिए बुढापे का इन्तजार मत करो। 'बूढे होंगे फिर सत्संगति करेंगे.... बुद्धि जीर्ण-शीर्ण हो जायेगी, संसार का कचरा नापते-तोलते बुद्धि क्षीण हो जायेगी तब उसमें ब्रह्म विचार का रस भरेंगे....' ऐसा मत सोचो। जब से जागो, तब से ही चल पड़ो ब्रह्मविचार की ओर। यह दुर्लभ चीज है। वशिष्ठजी महाराज बोलते हैं-

"तेरह निमेष अर्थात् आँख के तेरह पलकारें पड़ें, उतनी देर भी इस ब्रह्मविचार में अगर टिक गये तो जगतदान करने का फल मिलता है।"

निज आत्मा का बोध दुर्लभ है। ऐसी दुर्लभ चीज को पाना ही मनुष्य जीवन का परम पुरूषार्थ है।

संसार का त्याग कर दिया, फकीरी कमाई, पास में कुछ नहीं रखते, एक दमड़ी-कौड़ी भी नहीं है, हवा पीकर रहते हैं, लेकिन आत्मविचार नहीं है, ब्रह्मविचार नहीं है तो जो मधुर यात्रा होनी चाहिए वह नहीं होती।

एक चक्रवर्ती राजा सर्वस्व त्याग करके बिल्कुल त्यागी हो गये, भिक्षुक हो गये। महात्यागी ! जाकर गिरी-कन्दरा में बैठे। जब भूख सताती तब बस्ती में आते, रूखा सूखा ले जाते, धो-धोकर शुद्ध करके चबाते और फिर अपने ध्यान भजन में लग जाते। योगी मच्छन्दरनाथ घूमते घूमते उस नगर में आये तो लोगों ने प्रशंसा की कि नगर के भूतपूर्व नरेश अब महान् त्यागी-तपस्वी बन गये हैं। मच्छन्दरनाथ ने पूछाः "महान् त्यागी तो हैं, लेकिन त्याग का फल जो ब्रह्मविचार है, उसमें लीन हैं कि नहीं ?"

लोगों ने कहाः "महाराज ! ब्रह्मविचार क्या होता है, हमको पता नहीं।"

"राजा से महाराज हो गये, उनके दर्शन तो कर रहे हो लेकिन राजा से महाराज होना जिसके लिए है उस ब्रह्मविचार का तुमको पता ही नहीं, पागलों ! मैं उस त्यागी से मुलाकात करूँगा।" मच्छन्दरनाथ नगर में ठहर गये।

दूसरे दिन वे त्यागी नगर में आये और भिक्षा लेकर विदा हुए तो मच्छन्दर नाथ उनके साथ-साथ चलने लगे। रास्ते में जाते-जाते उनको एक कोहनी मार दी। त्यागी सम्राट ने कहाः

"महाराज ! आपकी कोहनी लगने से मैं क्रुद्ध नहीं होऊँगा। मैंने सर्वस्व त्याग दिया है। मैंने मान का भी त्याग कर दिया है।"

मच्छन्दरनाथ ने कोई उत्तर नहीं दिया। दोनों आगे चले। फिर मच्छन्दरनाथ ने छेड़खानी की। इस बार ऐसा धक्का मारा कि त्यागी के हाथ से भिक्षापात्र गिर गया। त्यागी बोलेः

"महाराज ! ऐसा करके आप मुझे गुस्सा दिलाते हैं, लेकिन मैं गुस्से होने वाला नहीं हूँ।"

फिर दोनों आगे बढ़े। मच्छन्दरनाथ ने तीसरा प्रयोग किया। महान् त्यागी बन बैठे भूतपूर्व राजा को जब तीसरा धक्का मारा तो त्यागी जी बोल उठेः

"आखिर आप क्या करना चाहते हैं ?"

"मैं तुम्हें यह समझाना चाहता हूँ कि तुमने त्याग तो किया लेकिन 'तुम कौन हो ?' इसका विचार तुमने नहीं किया। बिना इसको जाने तुम्हारे भीतर में रहेगा कि मैं पहले राजा था, चक्रवर्ती सम्राट था, अब मैं भिक्षुक हूँ, त्यागी हूँ। देह की परिच्छिन्नता मौजूद रहेगी। त्याग का फल जो अनन्त ब्रह्माण्ड में व्यापक सच्चिदानन्दघन परमात्मा की प्राप्ति है, उससे तुम वंचित रह जाओगे। इसके लिए ब्रह्मविचार की दुनिया में प्रवेश करना होगा।"

अकेला त्याग पर्याप्त नहीं है। अकेला त्याग पर्याप्त होता, अकेले त्याग से अगर ईश्वर मिल जाते तो उस राजा का काम बन जाता। उसके पास तो भिक्षापात्र था, लेकिन पक्षी ऐसे त्यागी हैं कि उनके पास भिक्षापात्र तक नहीं होता। राजा तो किसीके घर की बनी-बनायी भिक्षा लेते हैं, जबकि पक्षियों, पशुओं, कुत्तों आदि को तो रूखा-सूखा मिलता है, बिल्कुल अपमानित होकर मिलता है। फिर भी उनको अपमान नहीं लगता। इन त्यागी को तो एक-दो धक्के लगे लेकिन कुत्तों को कितने डंडे लगते हैं ! अगर त्यागियों में तुलना की जाय पशु-पक्षियों के त्याग के बराबर मनुष्य का त्याग नहीं है। ये पशु-पक्षी बेचारे कभी वस्त्र भी नहीं पहनते। त्यागी फकीर कम-से-कम लंगोटी तो पहनता है ! पक्षी किसी गुफा में नहीं रहते। कभी किसी डाल पर तो कभी किसी डाल पर जी लेते हैं।

मनुष्य कितना भी त्यागी हो, लेकिन ब्रह्मविचार नहीं किया तो त्याग का फल नहीं पाया। बड़े में बड़ा त्याग किसने किया ? जिसने आत्मपद पाया उसने बड़े में बड़ा त्याग किया।

यह कैसे ?

आत्मपद को पाने वाले ने अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डों की आसक्ति, स्वर्ग के सुख की लोलुपता, वैकुण्ठ का आकर्षण, यश-मान का आकर्षण आदि सबका त्याग कर दिया। उसने देह का भी त्याग कर दिया।

देह छतां जेनी दशा वरते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरणमां हो वंदन अगणीत।।

इस पद पर जो पहुँच गया उसने सबसे बड़ा त्याग कर दिया। चाहे वह राजा जनक के सिंहासन पर बैठा हो चाहे शुकदेव जी मुनि की व्यासपीठ पर विराजमान हो, चाहे मदालसा की तरह घर में कार्यरत हो। वह महान त्यागी है जिसने ब्रह्मविचार करके अपना देहाध्यास मिटा दिया।

यह अति दुर्लभ चीज है।

भगवान श्रीराम ने भी वशिष्ठजी से पूछाः "हे मुनिशार्दूल ! त्रिभुवन में सबसे उत्तम चीज कौन-सी है, उत्तम पद कौन-सा है और उत्तम पुरूष कौन-सा है ?"

वशिष्ठजी ने कहाः "हे रामचन्द्रजी ! इन्द्रियों के भोग में लिप्त होकर, मान बड़ाई की जंजीरों में फँसकर जीव बेचारे चहुँ ओर भटकते हैं। कोई-कोई विरला इन आकर्षणों से बचकर परम पद को पाता है, आत्मज्ञान को पाता है और वही उत्तम है।

मेरे मत में देवता उत्तम नहीं है, क्योंकि वे भोग की खाई में पड़े हैं और अपने को भाग्यवान मानते हैं। पुण्यनाश होने के बाद, भोग नष्ट होने के बाद वे दुःखी होते हैं। फिर उन्हें नीचे आना पड़ता है। मेरे मत में वे गन्धर्व भी उत्तम नहीं हैं, क्योंकि उन्हें आत्मज्ञान की तो गन्ध भी नहीं है। वे रूप बदल सकते हैं, सुवर्ण के विमान में जा सकते हैं, इधर-उधर गति कर सकते हैं लेकिन जिससे गति होती है, उस गतिदाता की मुलाकात नहीं करते। उन गन्धर्वों को धिक्कार है ! उन विद्याधरों को भी धिक्कार है जो वेदों की विद्या तो जानते हैं, ऋचाएँ तो बोल लेते हैं, लेकिन आत्मविद्या में उनको रस नहीं है। वेद के लक्ष्य का अमृत जिनको प्राप्त नहीं हुआ, उन विद्याधरों का धिक्कार है ! यक्ष और यक्षिणियों को भी धिक्कार है जो आत्मपद से वंचित होकर इधर-उधर नाचगान में, रूप-लावण्य में और विषय-वासना में जीवन बरबाद कर रहे हैं। पाताल लोक में जो नाग रहते हैं वे सुंदर नागिनियों के पीछे मोहांध हो जाते हैं। उन नागों को भी धिक्कार है जो आत्मरस से वंचित होकर काम-विकारों में अपना जीवन नष्ट कर रहे हैं।

हे राम जी ! मनुष्यों को तो तुम जानते ही हो। 'मेरा अपना घर हो जाये.... गृह बसाऊँ..... धन्धा पाऊँ.... धन बढ़ाऊँ..... पुत्रों को पाऊँ...... इसी चिन्ता में बेचारे चूर हैं। वे नराधम यह नहीं जानते कि जिस आत्मपद को जानने के लिए जीवन मिला है उसकी पहचान करनी चाहिए। वे ब्रह्मविचार नहीं करते। घर अपना हो, पत्नी सुन्दर हो, पुत्र आज्ञाकारी हो, पड़ोसी अच्छा हो, इधर ऐसा हो, उधर वैसा हो...... इन विचारों में तो जिन्दगी नष्ट कर देते हैं, लेकिन ब्रह्मविचार के लिए समय नहीं मिलता।

कोई-कोई विरला ही है जो ब्रह्मविचार के अमृत तक पहुँचता है। सागर में जन्तु बहुत होते हैं, घोंघे बहुत होते हैं। सीप तो कहीं-कहीं होती है, जो मोती पकाती है। ऐसे ही संसार-सागर में अज्ञानी मूढ तो बहुत होते हैं। कोई-कोई विरला होता है जो अपने दिल में ब्रह्मविचार करके आत्म-साक्षात्कार कर लेता है। उसको मेरा नमस्कार है !

ऐसे कोई राजर्षि हैं, जिन्होंने ब्रह्मविचार किया, कोई मुनि हैं, जिन्होंने ब्रह्मविचार किया। कोई नारियों के रूप में है, जिन्होंने ब्रह्मविचार किया और ब्रह्मपद को पाया। उनको मेरा धन्यवाद है..... उनको मेरा नमस्कार है ! देवलोक में भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, चन्द्र, कुबेर, वरूण, इन्द्र, यमराज..... और भी कई देव, बृहस्पति आदि आत्मविचार करके आत्मपद को पाये हुए हैं। बाकी के सब इधर-उधर के चक्कर में हैं। नागों में वासुकी नाग ने आत्मज्ञान पाया है। मुनीश्वरों में कपिल मुनि ने, अंगीरा, पराशर आदि बहुत सारे मुनियों ने आत्मपद पाया है। मनुष्यों में भी जिन्होंने पाया, उनको मेरा धन्यवाद है ! बाकी तो विषय वासना से, 'तेरी-मेरी' की वृत्ति से जीव संसार में नरक बनाकर, दुःख की आग जलाकर उसमें अपने आपको भूनते रहते हैं। अपने ही विचारों से राग और द्वेष की अग्नि जलाकर अपने आपको झुलसा रहे हैं। जिसने आत्मविचार किया है, उसने वह अग्नि बुझाकर ब्रह्मरस का पान किया है।"

भगवान शंकराचार्य श्लोक में कहते हैं- **किं दुर्लभं ?** सदगुरू, सत्संगति और ब्रह्मविचार।

सदगुरू मिल जायें और मनुष्य की अपनी योग्यता न हो तो सदगुरू से ब्रह्मविचार, ब्रह्मचर्चा, ब्रह्मध्यान, परमात्म-साक्षात्कार नहीं कर पायेगा। सदगुरू मिल गये लेकिन अपनी योग्यता नहीं है, तत्परता नहीं है तो मनुष्य उनसे भी ईंट, चूना, लोहा, लक्कड़ आदि संसार की तुच्छ चीजें चाहता है। जिसकी अपनी कुछ आध्यात्मिक कमाई है, अपने कुछ पुण्य हैं वह सदगुरू से सत् तत्त्व की जिज्ञासा करेगा। संसारका बन्धन कैसे छूटे ? आँख सदा के लिए बन्द हो जाये, इन नेत्रों की ज्योति कम हो जाये उसके पहले आत्म-ज्योति की जगमगाहट कैसे हो ? कुटुम्बीजन मुँह मोड़ लें उसके पहले अपने सर्वेश्वरस्वरूप की मुलाकात कैसे हो ? ऐसा प्रश्न करने वाला, आत्मविचार और आत्म-प्यास से भरा हुआ जो साधक है, वही सदगुरू का पूरा लाभ उठाता है। बाकी के लोग क्या करते हैं ? जैसे कोई सम्राट प्रसन्न हो जाय और उससे चना-चूड़ा और चार पैसे की चुइंगम-चॉकलेट माँगे, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता सदगुरू प्राप्त हो जायें और उनसे संसार की चीजें प्राप्त करके अपने को भाग्यवान मान ले वह नन्हें-मुन्ने बच्चे जैसा है जो तुच्छ खिलौनों में खुश हो जाता है।

पाताललोक, मृत्युलोक और स्वर्गलोक- इन तीनों लोकों में सदगुरू, सत्संगति और ब्रह्मविचार की प्राप्ति दुर्लभ है। ये तीन चीजें जिसे मिल गईं, चाहे और कुछ नहीं मिला, फिर भी वह सबसे ज्यादा भाग्यवान है। बाहर की सब चीजें हो, केवल ये तीन चीजें नहीं हों तो भले चार दिन के लिए उसे भाग्यवान मान लो, सामाजिक दृष्टि से उसे बड़ा मान लो, लेकिन वास्तव में उसने जीवन का फल नहीं पाया।

वशिष्ठजी कहते हैंः "हे राम जी ! लोगों की नजर मे जो ऊँचे दिखते हैं, वे भी भोग के कीचड़ में खदबदाते हैं। लोगों की दृष्टि से जो बड़े पद पर हैं, बड़ी सत्ता पर हैं, धन की राशि के स्वामी हैं, लोगों की दृष्टि से मान देने योग्य हैं, ऐसे लोग भी इन्द्रियों के विषयों में तपते हैं। कोई विरला है, जो इन्द्रियातीत, देशातीत, कालातीत तत्त्व को पाकर अपना जन्म सार्थक करता है।

इन्द्रियों से जो भी पकड़ में आयेगा, वह संयोगजन्य सुख होगा। संयोगजन्य जो कुछ भी सुख होगा, वह सुख भोक्ता की शक्ति को क्षीण करेगा। समय बरबाद करेगा। वास्तव में सुख इनके संयोग से नहीं आता, शुद्ध चैतन्य से आता है लेकिन इन्द्रियों और विषयों में शुद्ध चैतन्य के सुख को हम बिखेर देते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी के शिष्य लल्लूजी ने उनसे कहाः

"भगवन् ! मैंने दो पत्नियाँ त्यागीं, पुत्र त्यागे, परिवार त्यागा, वैभव-संपत्ति त्यागी लेकिन त्याग का जो फल है वह आत्मशांति प्रकट नहीं हुई।"

राजचन्द्रजी ने कहाः "लल्लू ! तू ठीक से ध्यान करके देख, विचार करके देख। तूने एक घर को त्यागा, लेकिन दस घरों के साथ तेरा सम्बन्ध है कि नहीं ? बातचीत है कि नहीं ? तूने अपने पुत्र त्यागे और पचासों पुत्रों के आगे अच्छा कहलाने की इच्छा है कि नहीं ? त्याग तो किया लेकिन त्यागने के बाद राग भी तेरा उतना ही बना रहा। जो बाहर का त्याग करके फिर बाहर से ही सुख लेना चाहता है, उसके त्याग का फल नही उपजता। ठीक से विचार कर।"

आखिर लल्लूजी निकट का शिष्य था। सिर नीचा हो गया। बोलाः "गुरूदेव ! बात समझ में आ गई।"

शंकराचार्यजी इसीलिए बोलते हैः ऐसे सदगुरू की प्राप्ति दुर्लभ है। वे देखते हैं कि हम साधना में कहाँ रूके हैं। रूकना हमारा पुराना स्वभाव है। युगों की आदत है। इन्द्रियजन्य सुखों में, वाह-वाही में, कहीं न कहीं रूक जाते हैं। कोई प्रतिकूलता आयी तो रूक गये, कोई अनुकूलता आयी तो रूक गये। अपमान हुआ तो रूक गये और कहीं विशेष मान मिल गया तो रूक गये।

सत्संग के मार्ग में कभी अपमान हो जाता है, तभी भी हम रूक जाते हैं। ये चीजें जीवन में बलात् आती ही हैं। इसलिए सत्संग को जीवन में बार-बार लाना चाहिए। सुने हुए अमृतवचनों का बार-बार स्मरण करना चाहिए। सुना हुआ सत्संग कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं काम आ ही जाता है।

दुर्लभ है सत्संग, दुर्लभ है सत्पुरूषों का सान्निध्य और दुर्लभ है ब्रह्मविचार।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

गीता में मधुर जीवन का मार्ग

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्पों से रहित हो गये हैं तथा ज्ञानाग्नि से समस्त कर्म दग्ध हो गये हैं, उसको बोधवान् पुरूष तत्त्ववेत्ता पंडित कहते हैं।'

(भगवद् गीताः4.19)

कर्म तो करता है लेकिन कामनारहित होकर, संकल्परहित होकर, ऐसा जो बुद्धिमान है वह तत्त्ववेत्ता है। उसकी अनुपम शक्तियाँ विकसित हो गईं, उसकी विलक्षण योग्यता गई। उसने जीने का फल पा लिया। मानव जन्म धारण करने का फल पा लिया, कामना और संकल्प से रहित होकर धन्य हो गया।

कामनाएँ और संकल्प हमारे जीवनरस को अन्धाधुंधी से बहा देते हैं। भविष्य में विषय भोगों के द्वारा सुख पाने की जो योजना बुद्धि में है, उसे कामना कहते हैं। जो आदमी भविष्य में विषयों व भोगों से सुखी होने की योजना बनाकर, संकल्प बाँधकर कामनावाला होकर कर्म करता है वह अपने को वर्त्तमान की योग्यता और वर्त्तमान के आनन्द से उठाकर दूर फेंक देता है। अपने को चिन्ता,भय, घृणा, ईर्ष्या, राग-द्वेष, अभिनिवेश की दुर्गम खाई में गिरा देता है। जो भविष्य में सुखभोग करने का आयोजन करता है, वर्त्तमान में उसकी योग्यताएँ क्षीण हो जाती हैं।

गीता हमसे कर्म नहीं छुड़ाती, गीता हमसे संसार नहीं छुड़ाती, गीता हमसे व्यवहार नहीं छुड़ाती, लेकिन व्यवहार में जो बेवकूफी करके हम बन्धन बना लेते हैं वह बन्धन छुड़ाती है। व्यवहार छोड़कर अर्जुन जा रहा था और गीता सुनकर धर्मयुद्ध करने को तैयार हो गया।

कामसंकल्पवर्जिताः। कामनाओं और संकल्पों का त्याग।

प्रश्न होगा कि कामना और संकल्पों के बिना आदमी जियेगा कैसे ? कामना और संकल्पों के साथ आदमी कैसे जी रहा है, यह भी तो देखो ! सुखभोग की जितनी कामना है, सुखभोग का संकल्प जितना तीव्र है, आदमी का जीवन उतना ही खिन्नता से, विकारों से, अशान्ति से, उद्वेग से भरा हुआ है।

कामना छोड़कर जीने का ढंग अगर आ जाय तो मनुष्य का जीवन मधुर हो जाय। वह आदमी तत्त्ववेत्ता हो जाय। वह अपनी वर्त्तमान अवस्था में पूर्ण प्रसन्न हो जाय और विषय सुख पाकर या कहीं जाकर सुख पाने की उसकी दृष्टि ही बदल जाय।

पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं।
जो फुक्र[1] में पूरे हैं, वह हर हाल में खुश हैं।।
हर काम में, हर दाम[2] में, हर चाल में खुश हैं।
गर माल दिया यार ने, तो माल में खुश हैं।।

बेजर[3] जो किया, तो उसी अहवाल[4] में खुश हैं।
इफलास[5] में, अदबार[6], इकबाल[7] में खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं।।1।।
गर उसने दिया गम, तो उस गम में रहे खुश।
मातम[8] जो दिया, तो उसी मातम में रहे खुश।।
खाने को मिला कम, तो उसी कम में रहे खुश।।
जिस तरह रखा उसने, उस आलम[9] में रहे खुश।।
दुःख दर्द में, आफात[10] में, जंजाल में खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं।।2।।
गर उसने उढ़ाया, तो लिया ओढ़ दोशाला[11]।
कम्बल जो दिया तो वही काँधे पै संभाला।।
चादर जो ओढ़ाई तो वही हो गई बाला[12]।
बँधवाई लंगोटी तो वही हँस से कहा, 'ला'।।
पोशाक में दस्तार[13] में, रूमाल में खुश है।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं।।3।।
गर खाट बिछाने को मिली, खाट में सोये।
दूकों में सुलाया, तो उसी हाट में सोये।।
रास्ते में कहा 'सो' तो वही बाट में सोये।
गर टाट बिछाने को दिया, टाट में सोये।।
और खाल बिछा दी, तो उसी खाल मे खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश है।।4।।
पानी जो मिला, पी लिया जिस तौर का पाया।
रोटी जो मिली, तो किया रोटी में गुजारा।।
गर कुछ न दिया यार ने, तो भूख को मारा।
दिल शाद रहे, करके कड़ाके पै कड़ाका[14]।।
और छाल चबाई, तो उसी छाल में खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश है।।5।।

1. फकीरी। 2. मूल्य। 3. निर्धन। 4. हालत। 5. गरीबी। 6. अभाग्य। 7. जगत का वैभव मान प्रतिष्ठा। 8. रोना-पीटना। 9. हालत। 10. मुसीबत। 11. सुन्दर वस्त्र। 12. सुन्दर। 13. पगड़ी। 14. उपवास।

ऐसे पुरूष को टाट आदि से अथवा महल से खुशी नही, उसकी अपनी निजी खुशी है जो हर हाल में अभिव्यक्त होती रहती है। जिसको अपनी निजी खुशी, निजी सुख, निजी जीवन नहीं

प्राप्त हुआ वह बड़ा दुःखी होता है। काम-क्रोध से आक्रान्त व्यक्ति पराधीन है और काम-संकल्पवर्जित व्यक्ति स्वाधीन है।

ऐसी स्वाधीनता पाने के लिए क्या किया जाय ?

अगर कामनाएँ हैं तो परहित की कामना बना दो। संकल्प हैं तो सत्यस्वरूप परमात्मा को पाने का संकल्प बना दो। कामना और संकल्प के बिना अगर काम नहीं चलता हो तो **बहुजनहितय..... बहुजनसुखाय** कामना करो और अपने स्वरूप में ठहरने का संकल्प करो।

कामनाओं के कारण व्यक्ति की योग्यताएँ कुण्ठित हो जाती हैं। कामना रहित व्यक्ति की योग्यताएँ विकसित होती है। कामना छूटती नहीं तो परहित की कामना करो। इससे अपनी योग्यता विकसित होगी। व्यक्तिगत भोग की कामना योग्यता को क्षीण कर देती है। अभी विषय-सुख, भोग-सुख नहीं मिलता, भविष्य में मिलेगा कि नही, इसकी चिन्ता, भय और सन्देह व्यक्ति की योग्यताओं को खा जाते हैं। अगर काम्य पदार्थ व्यक्ति को मिल जाते हैं तो भोग वासना के कारण वह उन काम्य पदार्थों में बद्ध हो जाता है। भोगने पर काम्य पदार्थ नष्ट हो जाते हैं अथवा भोगते समय ही कुछ गड़बड़ी पैदा कर देते हैं।

ज्ञानेश्वर महाराज 'ज्ञानेश्वरी गीता' में कहते हैं-

"अजगर का सिरहाना बनाकर अगर कोई सुख से सो सकता है तो विषय भोग से मनुष्य सुखी रह सकता है। रीछ को कम्बल मानकर आलिंगन करके कोई अपनी ठण्ड उड़ा सकता है तो काम्य पदार्थों से मनुष्य सुखी हो सकता है।"

पानी को खूब ठण्डा करके बर्फ बना दो तो पानी का वह शीतल स्वरूप कृत्रिम है। बर्फ को ऐसे ही छोड़ दो तो वह पिघलकर अपने असली स्वरूप में आ जायेगा, पानी बन जायेगा।

पानी को उबालकर वाष्प बना दो तो पानी का वह उष्ण स्वरूप कृत्रिम है। उस वाष्प को ऐसे ही छोड़ दो तो वह ठण्डा होकर फिर अपने असली स्वरूप में आ जाएगा, पानी बन जाएगा। कृत्रिम स्वरूप बना हुआ है, वह टिकेगा नहीं। सहज स्वाभाविक स्वरूप ही वास्तविक है, टिकने वाला है, सुखदायक है, सुखस्वरूप है।

वातानुकूल यंत्र से कमरा ठण्डा हो जाता है। यंत्र बन्द कर दो तो कमरा वैसे-का-वैसा बन जाता है। जो लोग वातानुकूल कमरे के आदी बन जाते हैं वे उसके अभाव में परेशान हो जाते हैं। काम्य पदार्थों को लेकर सुखी होने वाले लोग परेशानी मोल लेते हैं, क्योंकि काम्य पदार्थ तो कभी मिले न मिले। अगर सदा मिलते ही रहे तो भोक्ता के आयुष्य, बल, तेज, ओज, बुद्धि को नष्ट करके चले जाते हैं।

काम्य पदार्थों से सुख लेने की इच्छा व्यक्ति की असलियत को ढक देती है। इन्द्रिय-सुख में जीवन रम जाता है। इन्द्रिय-सुख भोगते-भोगते लोलुपता बढ़ती जाती है। फिर आगे चल कर इन्द्रियाँ तो शिथिल हो जाती हैं और सुख की लोलुपत मजबूत हो जाती है। अन्तःकरण में सुख-भोग की गहरी लकीरें पड़ जाती हैं। मरने पर वह लोलुपता, सुख-भोग की इच्छा-वासना साथ में

चलती है। उस वासना को तृप्त करने के लिए जीव को उसी प्रकार की योनियों में जाना पड़ता है। गद्दी-तकियों के सुख की आदत पड़ गई तो दूसरे जन्म में उसे तृप्त करने के लिए वैशाखनन्दन (गधा) बनना पड़ता है। काम-सुख की लोलुपता जोर मारती है तो दूसरे जन्म मे कूकर-शूकर, बकरा आदि बनना पड़ता है। बाह्य सौंदर्य देखने की लोलुपता रह गई, आँखों के द्वारा बाहर के दृश्य का गुलाम बन गया तो रूप की प्रधानतावाली योनि मिलेगी, जीव तितली बन जायेगा, पतंगा बन जायेग और रूप के सुख के पीछे मर जायेगा। इस प्रकार इन्द्रिय और विषय के संयोग से मिलने वाला सुख अगर भोगता रहा, ऐसे सुख की कामना करता रहा तो जीव उसी प्रकार की योनियों में जन्म ले लेता है।

जो व्यक्ति भविष्य में विषय-सुख की कामना नहीं करता, वर्त्तमान में भी विषय-सुख की कामना नहीं रखता वह ज्ञानी है। वह अपना कर्त्तव्य कर्म करता है। उस कर्म में उसकी हेय-उपादेय बुद्धि नहीं होती। 'मैं कर्म में फँस गया हूँ......' ऐसा गहराई से वह नहीं मानता। 'मैं मुक्त हो गया हूँ......' ऐसा परिच्छिन्न भाव भी उसमें नहीं रहता। लोगों की नजरों में तो वह बहुत सारे कार्यों का आरम्भ करता हुआ दिखेगा लेकिन वास्वत में वह सुख रूपी मोक्ष-मंदिर में विराजता है और आत्मानन्द के पकवान खाता है। लोगों की नजर में वह भोगता हुआ, खाता हुआ, लेता हुआ, देता हुआ, बहुत प्रवृत्ति करता हुआ दिखता है लेकिन अपनी ओर से उसको कोई कामना नहीं रहती। विषय-सुख भोगने की इच्छा-वासना-कामना नहीं है तो वह साक्षात् विष्णु का अंग है। वह तो चलता-फिरता नृत्य करता हुआ ब्रह्म है, फिर चाहे जनक के रूप में हो चाहे शुकदेवजी के रूप में हो, चाहे गार्गी के रूप में हो चाहे मदालसा के रूप में हो।

विषय-भोग में से जिसकी कामनाबुद्धि, सुखबुद्धि उठ गई, वह अपने 'स्व' यानि आत्मा के सुख में आ गया, निजस्वरूप में आ गया। वह स्वतन्त्र है। जो 'पर' यानि बाह्य विषय-भोग के सुख की इच्छा करता रहा, वह पराधीन है। इन्द्रियों का ऐसा कोई सुख नही जिसमें पराधीनता न हो। आँख का सुख लेना है तो रूप की गुलामी, कान का सुख लेना है तो शब्द की गुलामी, नासिका का सुख लेना है तो गन्ध की गुलामी, जिह्वा का सुख लेना है तो रस की गुलामी, त्वचा का सुख लेना है तो स्पर्श की गुलामी।

गुलामी से आक्रान्त जो सुख है, वह सुख कामनाओं और संकल्पों को बढ़ाता है, पराधीनता को बढ़ाता है। उससे बुद्धि धुँधली हो जाती है। कामना और संकल्प छोड़ने से जो सुख मिलता है वह स्वाधीनता को बढ़ाता है और बुद्धि ओजस्वी होती है। हृदय शुद्ध होता है। व्यक्ति शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। मुक्त व्यक्ति में और बद्ध व्यक्ति में यही फर्क है कि मुक्त व्यक्ति की कामना और संकल्प छूट गये हैं जबकि बद्ध व्यक्ति कामना और संकल्प के पीछे अपना सर्वस्व नष्ट कर रहा है। उसकी कोई कामना पूरी होती है, कोई नहीं होती, कोई अर्धदग्ध रह जाती है।

मजे की बात यह है कि ज्ञान से जिसकी कामना मिट गई, जल गई उसके जीवन में भी जो अन्न, जल, वस्त्र, निवास-स्थान, पुत्र-परिवार, त्याग-भोग जो भी आता है वह अपने आप आता है। 'यह सब चला न जाय....' ऐसा भय उसको नहीं होता। 'ये चीजें छूट न जाये.....' ऐसा भय भोगी को रहता है। 'अमुक काम्य पदार्थ मिले.....' इसकी कामना और चिन्ता उसे रहती है। व्यक्ति, वस्तु, प्राणी, पदार्थ आदि के लिए वह अपनी ओर से बँधता जाता है। उसके चित्त में गहरी मान्यताएँ और पकड़े होती हैं।

पाँच रूपये और गधा

कोई वैश्य भक्त खूब आदर-भाव से साधु-संतो की सेवा करता था। घूमते-घामते कोई त्रिकाल ज्ञानी संत उसके घर में अतिथि हो गये। भक्त की भक्ति-भावना देखकर उनका चित्त प्रसन्न हुआ। उन्होंने भक्त के नन्हें-मुन्ने बेटे की हस्तरेखा देखी और कहाः "भक्तराज ! तुम्हारे बेटे की रेखाएँ ऐसा कह रही हैं कि इसके भाग्य में पाँच रूपये और गधा सदा रहेगा।"

भक्त ने कहाः "जो भी रहे, स्वामी जी ! प्रारब्ध वेग से हर जीव आता है। उसके भाग्य जो हो, सो ठीक है। जैसी प्रभु की मर्जी !"

पन्द्रह साल के बाद वे बाबाजी घूमते घामते फिर उसी भक्त के द्वार पर पधारे। भक्त तो देव हो गये थे, उनका बेटा घर पर था। जवान हो गया था और धन्धा कर रहा था। बाबाजी ने कहाः

"तुम्हारे पिताजी बड़े साधुसेवी थे, भक्त थे। हम पहले भी आ चुके है। इस बार भी दो-चार दिन यहाँ रहना चाहते हैं।"

बेटा भी बड़ा संतप्रेमी था। उत्साह से वह बोलाः "हाँ हाँ महाराज ! खूब आनन्द से रहिए, कृपा कीजिए। यह घर आप ही की सेवा के लिए है। हमारा अहोभाग्य है कि आप जैसे संत-महात्मा की चरणरज से यह आँगन पावन हुआ।"

वह लड़का कुछ भी धन्धा करता, कमाता तो उसके पास आय-व्यय में जमा-उधार करके पाँच रूपये और एक गधा बचता था। बाबाजी आये, भोजन-पानी का खर्च बढ़ा फिर भी आखिर में पाच रूपये और गधा ही बचा।

बाबाजी ने कहाः "तेरे पास जो पाँच रूपये हैं उसका भण्डारा कर दे। अन्य साधु-संतों को भोजन करा दे।"

उसने पाँच रूपये का भण्डारा कर दिया। दूसरे दिन भी कमाया और खर्च किया तो पाँच रूपये और गधा बचा। बाबाजी ने कहाः "यह गधा बेच दे और पाँच रूपये भी खर्च कर डाल।" उसने वैसा ही किया। शाम को उसके पास कुछ न रहा।

सुबह उठा तो सामने कोई व्यक्ति मिला और बोलाः

"रात को मुझे एक स्वप्न आया और किसी देव ने कहा कि सुबह-सुबह जो कोई मिले उसको पाँच रूपये और गधा भेंट कर दो। अब कृपा करके आप इसे स्वीकार करो।"

लड़के ने जाकर बाबाजी को बताया। बाबाजी बोलेः

"यह तो देव को करना ही पड़ेगा। तेरे भाग्य में लिखा है तो देव को व्यवस्था करनी ही पड़ेगी।"

"बाबाजी ! अब क्या करूँ ?"

"तेरे पास जो कुछ आवे उसे खर्च कर दे, दान कर दे। कुछ भी कर, लेकिन अपने पास कुछ मत रख।"

वह लड़का ऐसा ही करने लगा। वह रोज-रोज सब लुटा देता और दूसरे दिन पाँच रूपये और गधा उसे मिल ही जाता। प्रतिदिन ऐसा होने लगा। आखिर उस लड़के का भाग्य साकार रूप लेकर बाबाजी के सामने प्रकट हो गया और बोलाः

"यह कैसी युक्ति आपने लड़ाई ! हमारी नाक में दम आ गया इसके पाँच रूपये और गधे की व्यवस्था करने में। वह लुटा देता है और मुझे किसी-न-किसी को निमित्त बना कर उसे पाँच रूपये और गधा दिलाना पड़ता है। कृपा करके आप ऐसी सीख इसको मत दीजिए। लोगों को प्रेरणा करते-करते और इसका बैलेन्स ठीक रखते-रखते हम थक गये।"

बाबाजी ने कहाः "तो इसका इतना छोटा 'बैलेन्स' क्यों बनाया ? बड़ा बना दो।"

भाग्य ने अपनी हार स्वीकार कर ली। लड़के का भाग्य श्रीमंत सेठ की नाईं हो गया।

इस कहानी से पता चलता है कि जो अवश्यंभावी है, वह होकर ही रहता है। जो खान-पान, पत्नी-पुत्र-परिवार, धन-यश आदि जो प्रारब्ध में होगा, वह आकर ही रहेगा तो हम उसकी कामना क्यों करें ? कामना करके अपनी इज्जत क्यों बिगाड़ें ? जो होना है सो होना है, जो पाना है सो पाना है, जो खोना है सो खोना है। सब सूत्र प्रभु के हाथों में.... नाहक करनी का बोझ उठाना ? कबीर जी कहते है-

मेरो चिन्त्यो होत नहीं, हरि को चिन्त्यो होत।
हरि को चिन्त्यो हरि करे, मैं रहूँ निश्चिन्त।।

कई बार ऐसे प्रसंग देखे गये हैं: माता-पिता बहुत लालायित रहते हैं कि अपनी लड़की की मँगनी हो जाय, लेकिन नहीं होती। फिर थककर छोड़ देते हैं..... जैसी भगवान की मर्जी ! जो भी होगा, ठीक है। तब अपने आप कार्य निपट जाता है, अच्छी जगह घर मिल जाता है, बच्ची सुखी होती है।

अपने करने से सब कार्य अगर हो जाते, अपनी कामना के मुताबिक सब होता रहता तो संसार में कोई दुःखी रहता ही नहीं। कामनाओं और इच्छाओं से काम्य वस्तुएँ मिल जातीं और टिक जातीं तो सब लोग सुखी होते। संसार में देखा जाय तो आत्मज्ञानरहित जो भी हैं, वे दुःखी हैं।

कोई कार्य, कोई संकल्प पूरा हो भी जाता है तो उसमें केवल आपका पुरूषार्थ ही कारणभूत नहीं होता। कर्म की सिद्धि में कारणभूत पाँच बातें भगवदगीता में बताई गई हैं-

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथ्कचेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।।

"कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, नाना प्रकार की चेष्टाएँ और देव ये पाँच हेतु हैं।"

(भगवद् गीताः 18.14)

कार्य की सिद्धि के लिए यत्न तो करो लेकिन सुख भोगने की कामना मत करो। कोई वस्तु मिलने वाली हो तो पहले प्रारब्ध का संयोग चाहिए, अपना पुरूषार्थ चाहिए, उचित दिशा में पुरूषार्थ का विवेक चाहिए।

चूहे का पुरूषार्थ

एक बार चूहों की सभा हुई तो मुखिया चूहे ने कहाः

"पुरूषार्थ परम देव है। खूब उत्साह से पुरूषार्थ करना चाहिए। जाओ, लोगों के घर में घुसकर कुछ-न-कुछ पुरूषार्थ करने में लग जाओ।"

सब चूहे भागे। कोई हलवाई के वहाँ पहुँचा, कोई किराने की दुकान में घुसा, कोई अनाज के भण्डार में गया। एक चूहा पहुँच गय मदारी के घर। बाँस की मजबूत टोकरी में साँप बन्द पड़ा था। चूहे ने उस टोकरी में छेद करना चालू कर दिय। बाँस की कड़ी सलाइयाँ ! जल्दी कटे कैसे ! चूहे के मुँह से रक्त बहने लग। लेकिन मुखिया की ललकार याद आयीः "पुरूषार्थ करो। खाली हाथ वापस मत आना।"

चूहा पुरूषार्थ में लगा रहा। आखिर सफल हो गया। टोकरी में छेद करके अन्दर गया तो रात भर का भूखा साँप उसका इन्तजार ही कर रहा था। वह चूहे को स्वाहा कर गया।

चूहे की कामना थी, इच्छा थी काम्य पदार्थ पाकर सुख भोगने की। पुरूषार्थ भी किया लेकिन दिशा गलत थी।

किसी को ऐसी इच्छा नही होती कि अपनी मृत्यु हो, इच्छा नहीं होती कि अपना अपमान हो, इच्छा नही होती कि हम बीमार हों, फिर भी ये परिस्थितियाँ आ ही जाती है। लेन-देन के व्यवहार में कई विषाद भरे प्रसंग खड़े हो जाते हैं। इस बात को सयाने व्यक्ति जानते है। इसलिए वे लेन-देन का कर्जा चुकाते रहते हैं और नये संकल्प करने से बचते रहते हैं। साधारण आदमी अनुकूलता से चिपकने की कोशिश करता है, प्रतिकूलता से उद्विग्न होता है। इस प्रकार वह वर्त्तमान को धुँधला बना देता है।

कच की सेवा भावना

बृहस्पति के पुत्र कच ने देखा कि पिता जी ब्रह्मविद्या में पूर्ण हैं, लेकिन हमारे पास संजीवनी विद्या नहीं है। केवल दैत्यों के गुरू शुक्राचार्य ही यह विद्या जानते हैं। कैसे भी हो, यह विद्या सीखनी ही चाहिए।

कच आये शुक्राचार्य के पास और विनीत भाव से बोलेः

"मैं आपकी शरण आया हूँ। मुझे कोई सेवा बताइये।"

"सेवा करनी हो तो इस गाय की सेवा प्रेमपूर्वक करो। उससे समय मिले तब मेरी पुत्री देवयानी जो बतावे वह काम करो, उसके आज्ञापालन में रहो।" शुक्राचार्य ने कच को रख लिया।

कच अपनी कामना-तृप्ति के लिए नहीं लेकिन परहित के लिए सेवा में लग गये। व्यक्तिगत सुख की कामना को बदलना हो तो **बहुजनहिताय.... बहुजनसुखाय** का संकल्प करो। परोपकारार्थ संकल्प होते ही और व्यक्तिगत सुख का संकल्प घटते ही आपकी विशालता बढ़ेगी। आपको अपने-आप सुख मिलेगा।

या वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।

जो नितान्त छोटे हैं, वे व्यक्तिगत सुख के लिए उलझते हैं। जो उनसे थोड़े विकसित हैं वे परिवार के सुख का यत्न करते हैं। उनसे और थोड़े विकसित हैं वे पड़ोस के सुख का यत्न करते है। उनसे भी जो विकसित हैं वे क्रमशः तहसील के सुख का, राज्य के सुख का, राष्ट्र के सुख का और विश्व के सुख का यत्न करते है। उन सबसे जो अधिक विकसित हैं वे विश्वेश्वरस्वरूप में टिकने का प्रयत्न करते हैं। अपने विचारों का दायरा जितना बड़ा होगा, उतनी ही वृत्तियाँ विशाल होंगी। वृत्तियाँ जितनी विशाल होंगी, उतना ही आदमी सुखी होगा। वृत्तियाँ जितनी संकीर्ण होंगी, उतना ही आदमी दुःखी होगा। कुटुम्ब में भी जो व्यक्ति व्यक्तिगत संकीर्णता में जीता है उसका आदर नहीं होता। कुटुम्ब के दायरे में जो जीता है, कुटुम्ब उसका आदर करता है। समाज के दायरे में जो जीता है तो समाज उसका आदर करता है। जो विश्व का मंगल सोचता है, विश्व कल्याण में प्रवृत्त है वह विश्व की किसी भी जगह पर जाय तो उसकी सेवा करनेवाले, उसको सहयोग और सहकार देनेवाले लोग उसको प्राप्त हो जाते हैं। जैसे स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि महापुरूष।

हमारी वृत्तियों का दायरा जितना-जितना बड़ा, उतना ही हमारा सुख बड़ा।

कच आये थे **बहुजनहिताय** संजीवनी विद्या सीखने के लिए। तत्पर हो गये सेवा में। दैत्यों ने जाना किः "यह शत्रुपक्ष का है और संजीवनी विद्या सीखने आया है। उसकी सेवा से गुरू संतुष्ट मालूम होते हैं। वह बड़ी तत्परता से सेवा में लगा है। संजीवनी विद्या सीखकर जाएगा तो शत्रुपक्ष बलवान् हो जायेगा, हमारे लिए मुसीबत हो जाएगी। क्यों न विषवृक्ष के मूल में ही कुल्हाड़ा मार दिया जाये ?"

एक बार कच जंगल में गये घास, दर्भ, समिधा आदि लेने के लिए, तो दैत्यों ने उनकी हत्या करके उनका मांस कुत्तों को खिला दिया। शाम हुई। शुक्राचार्य ने देखा कि कच नहीं आया। ध्यान से जाना कि उसकी हत्या हो गयी है। उन्होंने संजीवनी विद्या के बल से कच को बुलायाः

"बेटा कच ! जहाँ भी हो, यहाँ आ जाओ।"

कच जिन्दा होकर आ गये। गुरूजी ने पूछाः

"कहाँ गया था ?"

"दैत्य-पुत्रों ने मार डाला था और कुत्तों को खिला दिया था।"

"अच्छा ! ऐसा किया था ?"

"हाँ, गुरूजी !"

दैत्यों ने दूसरे दिन देखा कि यह तो जिन्दा हो गया ! इस बार उसको मारकर जला दिया, भस्म कर दिया और शुक्राचार्य की सुरा में वह भस्म मिलाकर शुक्राचार्य को पिला दिया। देखें अब कैसे जिन्दा होता है !

रात्रि के समय तक कच आये नही तो शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या का अनुसन्धान करके उसे बुलायाः

"कच ! कहीं भी हो, आ जा।"

गुरूजी के पेट से कच बोलाः "गुरूजी ! आपके पेट में बैठा हूँ। आपकी आज्ञा से अगर मैं बाहर आ जाता हूँ तो आपकी मृत्यु होती है। मैं कैसे आऊँ ?"

"मेरे पेट में तू कैसे आ गया?"

कच ने सारी घटना बता दी। शुक्राचार्य ने देखा कि शिष्य बड़ा वफादार है। वह चाहता तो मेरी आज्ञा से पेट से बाहर आ सकता था, लेकिन मेरे हित की भावना से उसका दिल भरा है। मुझे हानि नहीं पहुँचायी। ऊँची योग्यता है इसकी। ब्राह्मण-पुत्र है, सेवा में तत्पर है। वर्षों तक ब्रह्मचर्य-व्रत पाला है, परहित में रत है। इसको संजीवनी विद्या शोभा देगी। वे प्यार से बोलेः

"बेटा कच ! मैं तुझ पर सन्तुष्ट हूँ। तेरी वफादारी से प्रसन्न हूँ। पाँच वर्ष के बाद तुझे संजीवनी विद्या देने वाला था, लेकिन आज ही वह विद्या तुझे सिखा देता हूँ। पेट में बैठे-बैठे ही यह विद्या सीख ले। फिर बाहर आ जा। मेरी मृत्यु हो जायेगी तो तू उसी विद्या के बल से मुझे फिर जीवित कर देना।"

कच गुरू के प्रिय पात्र कैसे बन पाये ? संजीवनी विद्या कैसे पायी ? **कामसंकल्पविवर्जिताः** होकर गुरू की सेवा करने से। उनमें अपनी वैयक्तिक कामना की अन्धाधुन्धी नहीं थी। बुद्धि में ओज था, विकास था, प्रकाश था। जब अपन स्वार्थ होता है तब दूसरों का हिताहित भूल जाते है, नीति-नियम भूल जाते हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख के लिए कामना और संकल्प होता है तो आदमी गलती कर बैठता है। जिसका संकल्प अपने लिए नहीं होता, समष्टि के लिए होता है तो उसकी बुद्धि ठीक काम देती है। अपनी कामना से जहाँ कहीं सुख लेने जाते हैं तो गड़बड़ी होती है। दूसरों को सुख देने, प्रसन्न करन जाते हैं तो उनके सुख और प्रसन्नता में अपना सुख और चित्त की प्रसन्नता अपने-आप आ जाती है। कार्यों में सफलता मिलती है वह मुनाफे में।

निष्काम गुरूसेवा

वैदिक काल में सुभाष नाम का एक विद्यार्थी अपने गुरू के चरणों में विद्याध्ययन करने गया। विद्या तो पढ़ता था, लेकिन गुरूजी की अंगत सेवा में अधिक लग गया। ऐसी सेवा की,

ऐसी सेवा की कि गुरूजी का दिल जीत लिया। विद्योपार्जन करके जब घर लौट रहा था, तब गुरूजी ने कहाः

"बेटा ! तूने मेरा दिल जीत लिया है। हम तो ठहरे साधारण साधू। हमारे पास कोई धन-वैभव, राज-सत्ता नहीं कि तुझे कुछ दे सकें। वत्स ! तेरा कल्याण हो !" ऐसा करके प्यारे शिष्य को छाती से लगा लिया। फिर अपनी छाती से एक बाल उखाड़कर उसे देते हुए बोलेः

"बेटा ! ले, यह प्रसाद के रूप में सँभालकर रखना। जब तक यह तेरे पास रहेगा, तब तक तुझे धन-वैभव-लक्ष्मी की चिन्ता नहीं रहेगी।"

"गुरूदेव! आपने तो मुझे सब कुछ पहले से ही दे दिया है।"

"सो तो है, लेकिन यह भी रख ले।"

सुभाष ने बड़े आदर से वह बाल अपने पास रखा। हर रोज उसकी सेवा-पूजा करने लगा। उसके घर में सुख-शान्ति और समृद्धि का साम्राज्य छा गया।

सुभाष के पड़ोसी ने देखा कि यह भी पढ़कर आया है और मैं भी पढ़कर आया हूँ। उससे भी अधिक पढ़ा हूँ। लेकिन इसके पास इतना वैभव और मेरे पास कुछ नहीं ? इसके पास धन छनाछन और मैं हूँ ठनठनपाल ? इसका सर्वत्र मान हो रहा है और मुझको कोई पूछता तक नहीं ? ऐसा क्यों ?

पड़ोसी ने सुभाष से पूछा। सुभाष तो रहा सज्जन, सरल हृदयवाला। उसने बता दिया किः "यह सब गुरूजी की कृपा है। मैंने उनकी हृदयपूर्वक सेवा की, उनकी कृपा प्राप्त की। मै विदा हुआ तो उन्होंने अपनी छाती का बाल मुझे दिया। मैं रोज उसकी पूजा करता हूँ। यह सब उन्हीं का दिया हुआ है।"

पड़ोसी ने सुभाष के गुरूजी का पता पूछ लिया और पहुँच गया वहाँ। प्रणाम करके बोलाः

"गुरूजी ! मै सुभाष के पड़ोस में रहता हूँ। आपका नाम सुनकर आया हूँ।"

"ठीक है।" गुरूजी बोले।

"गुरू जी महाराज ! आपकी सेवा करूँगा।"

"कोई सेवा नहीं है।"

उसके भीतर तो धन-वैभव पाने की कामना खदबदा रही थी। उसकी सेवा में क्या बरकत होगी ? आश्रम में इधर-उधर उछल कूद की, थोड़ा-बहुत दिखावटी काम किया। शाम हुई तो गुरूजी से बोलाः

"गुरूजी ! आप दयालु हैं। सुभाष को धन्य किया है। मुझ पर भी कृपा करो। मेरी इच्छा भी पूरी करो।"

"क्या इच्छा पूरी करें।?"

"मुझे भी अपना बाल उखाड़कर दो।"

"अरे भाई ! उसका तो कोई प्रारब्ध जोर मार रहा था, इसलिए ऐसा हुआ। हम कोई चमत्कार करनेवाले नहीं हैं।"

उस आदमी ने सोचा कि कैसा भी हो, गुरूजी की छाती के इतने छोटे-से बाल में इतनी शक्ति है तो जटाओं के लम्बे-लम्बे बालों में कितनी शक्ति होगी ? वह उठा और गुरूजी की जटाओं में हाथ डाला। चार-पाँच बाल खींचकर भागा।

कामनावाला व्यक्ति अन्धा हो जाता है। काम और सुख-भोग के संकल्प उसकी बुद्धि का दिवाला निकाल देते हैं।

गुरूजी ने कहाः "तुझे बाल इतने प्यारे हैं तो जा, तुझे बाल-ही-बाल मिलेंगे।"

वह घर गया। भोजन करने बैठे तो थाली में बाल। पूजा करने बैठे तो बाल। परेशान हो गया। उसकी हालत ऐसी कैसे बनी ? काम और संकल्प की आधीनता से। सुभाष सुखी कैसे बना ? काम और संकल्परहित होकर गुरूसेवा में तन्मय होने से। काम और संकल्प की निवृत्ति की तो धन, मान, यश, सुख और शांति उसके पीछे-पीछे आयी।

व्यक्ति कामना करता है कि मैं इतना धन पा लूँ, उस पद पर पहुँच जाऊँ। उसे वह सब मिल जाये। फिर क्या ? वह सुख-शांति से जियेगा ? नहीं, उन्हें सँभालने की चिन्ता में जियेगा।

जिसकी कामनाएँ शांत हो जाती हैं उसे जिस पद पर पहुँचना है, वहाँ स्वाभाविक पहुँच जाता है। आदमी जितना-जितना संकल्प और कामनाओं को पकड़ रखता है, उतनी उसकी योग्यता और शांति क्षीण हो जाती है। जो लोग काम और संकल्प से बँधे हैं उनको कार्य करते समय काल्पनिक भय, चिन्ता, शोक आदि घेर लेते हैं। ज्ञानी कर्म करते हैं तो उन्हें कामना नहीं होती। इसलिए उन्हें व्यर्थ के भय, चिन्ता, शोक आदि नहीं होते। वे हर हाल में मस्त रहते हैं। ऐसे ज्ञानियों की दृष्टि पाने के लिए भगवान अर्जुन से कहते हैं:

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पविवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः।।

हमारे जीवन में ज्ञान की अग्नि होनी चाहिए। कोई भी कामना उठे तो सोचो कि यह कामना पूरी होगी, फिर क्या ? अमुक वस्तु मिली फिर क्या ? ये वस्तुएँ जिनको मिली हैं, उनका क्या हाल है ? वे तृप्त हैं क्या ? अमुक पद पर पहुँचेंगे, फिर क्या ? जो लोग उस पद पर पहुँच गये हैं, वे पूर्ण सुखी हैं क्या ?

इसका मतलब यह नहीं कि आलसी होना है, पलायनवादी होना है अथवा एक छोटे से दायरे में पड़ा रहना है। नहीं, जीवन का पूर्ण विकास साधना है ब्रह्मविद्या के रहस्यों को आत्मसात् करते हुए।

जीवन में ऊँचा लक्ष्य नहीं होता, ऊँची समझ नहीं होती इसलिए आदमी नीची कामना और नीचा संकल्प करके छोटे-से दायरे में फँसता रहता है। जीवन में ऊँची समझ और ऊँचा

लक्ष्य हो तो निष्कामता से आदमी ऐसी ऊँचाई पर पहुँचता है कि जहाँ इन्द्रदेव का आसन भी छोटा पड़ जाता है।

ओखा की शादी

पार्वती जी ने अपने बल और तप के प्रभाव से पुत्र और पुत्री बना दिया। पुत्र का नाम गणपति रखा और पुत्री का नाम रखा ओखा। ओखा ब्याहने योग्य हुई तो शिवजी ने कोई वर पसंद किया। उसी समय नारद जी और दक्षपुत्र भी एक-एक वर चुनकर लाये। पार्वतीजी को भी कोई वर ओखा के लिए बढ़िया लग गया। अब ओखा एक और वर आये चार।

काम-संकल्परहित शिवजी ने अपनी जटाओं में से एक बाल निकाला और अनुचर की भाँति उसे आज्ञा दीः "जो सामने मिले, उन तीन कन्याओं को ले आ।" सामने मिली कुत्ती, गधी और बिल्ली। शिवजी ने दृष्टि मात्र से उन्हें ओखा जैसी ही बना दिया। चारों कन्याओं को चार वर के साथ ब्याह दिया। शिवजी ने जिसे पसंद किया था, उससे असली ओखा की शादी की।

कुछ समय के बाद नारदजी चारों कन्याओं के सुख-दुःख जानने गये, खबर पूछने गये। बिल्ली में से बनी कन्या के घर गये और देखा तो वह बिल्ली की तरह इधर-उधर कूदा-कूद करती थी। जैसे कामनावाले पुरूष का चित्त इधर-उधर कूदता रहता है। फिर कुत्ती में से बनी कन्या के घर जाकर देखा तो उसे व्यर्थ का भौंकने की आदत थी, जैसे कामनवाला पुरुष व्यर्थ के संकल्प-विकल्प करके वर्त्तमान की शांति भंग कर देता है। गधी में से जो कन्या बनी थी, उसके पास कपड़े-लत्ते, गहने आदि तो बहुत कुछ थे, लेकिन उसका गधी का स्वभाव गया नहीं था। वह जहाँ कहीं लोटती-पोटती रहती थी।

इसी प्रकार मनुष्य कितना भी बढ़िया भाग्य ले आता है, बढ़िया-से-बढ़िया वातावरण में जन्म लेता है फिर भी कामना और संकल्परूपी गधी जैसी वृत्ति उसको जहाँ कहीं पटकती रहती है। खाने-पीने का है, रहने का है, गाड़ी है, वाड़ी है, सब कुछ सुविधाएँ हैं फिर भी कामनाएँ और संकल्प जीव को सुख की खोज में बाहर भटकाते हैं, गन्दे स्थानों में लोटपोट कराते हैं। निर्मल चिदाकाशस्वरूप आत्मदेव को इन्द्रियों और विषय-सुख की मलिन भूमि में गिराकर उलझाते हैं। कामना और संकल्प जीव का कलेजा जलाते रहते हैं।

घोड़ी गई...... हुक्का रह गया

मैंने सुना है एक चुटकुला। कोई नया-नया चोर कहीं से एक बढ़िया, पानीदार, आभासम्पन्न, तेज घोड़ी चुरा लाया। सोचा कि ऐसी बढ़िया घोड़ी पर सवार करके गाँव में घूमूँगा तो लोग समझ जाएंगे और मैं पकड़ा जाऊँगा। ढोर बाजार में जाकर इसे बेच दूँ। पैसे मिलेंगे। एक दो-साथी बना लूँगा फिर दूसरी घोड़ियाँ ले आएँगे। खूब पैसे कमाएँगे।

कामना और संकल्प उसके बढ़ गये।

घोड़ी लेकर वह पहुँचा बाजार में। अपराधी मानस था। चोरी का माल था। रंगेहाथ पकड़े जाने का डर था। भीतर से खोखला हो गया था। दबी आवाज में धीरे-धीरे लोगों से बोलताः

"घोड़ी चाहिए घोड़ी ? पानीदार घोड़ी है।"

एक आदमी मामला समझ गया। रोब भरी आवाज में पूछाः

"कितने में देगा रे ?"

चोर तो सोचता रह गया। कितने में बेचूँ ? घोड़ों की लेन-देन उसके बाप दादों ने भी नहीं की थी। वह हक्का बक्का रह गया। वह आदमी बोलाः

"घोड़ी दिखती तो अच्छी है लेकिन सवारी करके देखना पड़ेगा। तू मेरा यह हुक्का पकड़। मैं एक चक्कर लगाकर आता हूँ।"

वह घोड़ी लेकर रवाना हो गया। चोर ने वापस बुलाया तो उसने कहाः "जिस भाव में तु लाया था उसी भाव में मैं लिये जा रहा हूँ। चिन्ता मत कर।"

चोर की घोड़ी तो गई, हाथ में हुक्का रह गया। घर पहुँचा तो किसी ने पूछाः "तू तो घोड़ी बेचने गया था ! क्या हुआ ?"

पोपला मुँह बनाकर चोर बोलाः "घोड़ी तो गई और मेरा कलेजा जलाने के लिय यह हुक्का रह गया हाथ में।"

ऐसे ही समय की धारा बहती चली जाती है और कलेजा जलाने वाली कामनाएँ अन्तःकरण में पड़ी रह जाती है। देह रूपी घोड़ा रवाना हो जाता है और सूक्ष्म शरीर में कामनारूपी हुक्का कलेजा जलाता रहता है। फिर जीव प्रेत होकर भटकता है।

देह छूट जाये और कोई कामना नहीं रहे तो जीव विदेही हो जाये, ब्रह्मस्वरूप हो जाय। कामना रह गई और देह छूट गई, दूसरी देह नहीं मिली तो जीव प्रेत होकर भटकता है। खाने-पीने की वासना है लेकिन बिना देह के खा-पी नहीं सकता। भोगने की वासना है लेकिन भोग नहीं सकता। फिर वासना तृप्त करने के लिए दूसरों के शरीर में घुसता है, वहाँ भी झाड़-फूँकवाले लोग उसकी पिटाई करते हैं।

पिटाई किसकी होती है ? इच्छा, कामना, वासना की ही पिटाई होती है। पूजा किसकी होती है ? निष्कामता की पूजा होती है। जिनके अन्तःकरण से वासना-कामना निवृत्त हो जाती है, वे महापुरूष होकर पूजे जाते हैं, वे साक्षात् शिवस्वरूप हो जाते हैं। ऐसे सत्पुरूषों के लिए ही कहा हैः

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूर्साक्षात्परब्रह्म तस्मैं श्रीगुरवे नमः।।

गुरू ब्रह्म कैसे ? वे हमारे हृदय में ज्ञान भरते है। गुरू विष्णु कैसे ? वे हमारे ज्ञान की पुष्टि करते हैं। गुरू महेश कैसे ? वे हमारे चित्त में छुपी हुई कामनाओं को भस्म करते हैं।

कामनाओं को हटाने का एक तो है विचारमार्ग, दूसरा है योगमार्ग। योग के भी कई प्रकार हैं। लययोग करते-करते मन की कामनाएँ कुछ कम हो जाती हैं, संकल्प-विकल्प कम हो जाते

हैं, भीतर का सुख बढ़ने लगता है। भीतर का सुख मिलने लगता है तो बाहर की कामनाओं की परंपरा क्षीण होने लगती है।

ध्यानयोग के द्वारा मन एकाग्र होता है। एकाग्रता से भीतर का सुख मिलने लगता है। संकल्प में बल आने लगता है। जो कामना की जाती है, वह शीघ्र फलित होने लगती है। अगर योग-साधक की समझ बढ़िया है तो वह किसी कामना में नहीं उलझेगा। समझ मध्यम है तो कोई अच्छी कामना करेगा। समझ कनिष्ठ है तो छोटी-छोटी कामनाएँ करके सुख भोगने लगेगा। योग की पूँजी खत्म कर देगा।

ध्यानयोग का साधक योग की ऊँचाई पर जाय और योग के द्वारा कामनाएँ पूरी करने मे लगे, कामना तृप्त करते-करते सावधान न रहे तो दूसरी कामनाएँ जग जाती हैं और उसके योगाभ्यास तथा एकाग्रता की कमाई को खत्म कर देती है। वह साधक भ्रष्ट हो जाता है अपने योगमार्ग से।

योग-साधना में एकाग्रता होती है। अगर कुछ होने की, कुछ पाने की, व्यक्तित्व सजाने की कामना रही तो योग-साधक के भ्रष्ट होने की संभावना रहती है।

ज्ञान-साधना में हम वास्तव में क्या हैं ? इस तत्त्व का पता चल जाता है। एक बार ठीक से अपने आत्मस्वरूप का ज्यों-का-त्यों पता चल जाय फिर वह साधक सिद्ध बन जाता है, आत्मज्ञानी बन जाता है। फिर ज्ञान से भ्रष्ट होने की संभावना नहीं रहती। योगभ्रष्ट कई हुए लेकिन ज्ञानभ्रष्ट कोई हुआ हो, यह आज तक सुना नहीं। इसीलिए नरसिंह मेहता कहते हैं-

ज्यां लगी आत्मतत्त्व चीन्यो नहीं।
त्यां लगी साधना सर्व झूठी।।

इसका मतलब यह नहीं कि जब तक आत्मज्ञान न हो तब तक साधना करनी ही नहीं चाहिए। ना..... ना.... ऐसी नासमझी करने के लिए नरसिंह मेहता के वचन नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान के बिना साधना पूर्ण नहीं होती, इसका फल शाश्वत नहीं होता।

चित्त में एक बार कोई कामना घुस गयी तो फिर स्वचालित यंत्र की तरह आदमी काम करता रहता है, जीवनभर। यही तो संसार की चक्की का चालक बल है। कोई धन के लिए, कोई पत्नी के लिए, कोई बेटे के लिए, कोई बेटी के लिए, कोई अच्छा कहलाने के लिए, कोई गाड़ी-मोटर के लिए। किसी-न-किसी वासना से बँधकर मजदूरी करते रहते हैं। ज्ञानी निर्वासनिक होकर व्यवहार करते है।

मोटर कार की चार अवस्थाएँ होती हैं-

पहली अवस्थाः गाड़ी पड़ी है गैरेज मे, साफ-सुथरी, ज्यों-की-त्यों। गाड़ी भी शांत, पहिए भी स्थिर और इंजिन भी चुप। पड़ी हुई गाड़ी को जंग लग रहा है, समय बरबाद हो रहा है।

दूसरी अवस्थाः इंजिन को चालू किय लेकिन गाड़ी को गियर में नहीं डाला। अभी वह गैरेज में ही है। गति नहीं करती। पहिये घूमते नहीं। केवल इंजिन चल रहा है। पेट्रोल जल रहा है बेकार में। कुछ कार्य सिद्ध नहीं हो रहा है।

तीसरी अवस्थाः गाड़ी का गियर घुमाया, गाड़ी गैरेज से बाहर आयी और सड़क पर भाग रही है। इंजिन भी चल रहा है, पहिये भी घूम रहे हैं, गाड़ी भी दौड़ रही है, पेट्रोल भी जल रहा है। मशीन चल-चलकर जीर्ण हो रही है।

चौथी अवस्थाः रास्ते में लम्बी ढलान आयी। चतुर ड्राइवर न गियर 'न्यूट्रल' कर दिया, इंजिन बन्द कर दिय फिर भी गाड़ी आगे भाग रही है, मंजिल तय कर रही है, इंजिन की कोई आवाज नहीं, पेट्रोल का खर्च नहीं। मधुर यात्रा हो रही है।

ऐसे ही अन्तःकरणरूपी गाड़ी की चार अवस्थाएँ हैं-

पहली अवस्थाः कुछ जीव अन्तःकरण की घनीभूत सुषुप्त अवस्था में जी रहे हैं, जैसे कि वृक्ष, पाषाण आदि। कोई कामना नहीं, कोई संकल्प नहीं फिर भी दुःख भोग रहे हैं बेचारे। पड़े-पड़े तप रहे हैं।

दूसरी अवस्थाः कुछ लोग ऐसे होते हैं कि संकल्प-पर-संकल्प, विकल्प-पर-विकल्प करते रहते हैं, पलायनवादी होते हैं। चाहिए तो बढ़िया खाने को, बढ़िया पहनने को, बढ़िय रहने को लेकिन कर्म नहीं करते। भीतर संकल्प-विकल्प का इंजिन धमाधम चलता रहता है लेकिन पहिये घूमते नहीं, हाथ-पैर उचित दिशा में उचित समय पर चलते नहीं। पड़े हैं आलसी-पलायनवादी होकर।

तीसरी अवस्थाः कुछ लोग जैसे संकल्प और कामनाएँ होती हैं, वैसे कर्म करते हैं। उनका आयुष्यरूपी पेट्रोल जल रहा है, शक्ति खर्च हो रही है, जीवनरूपी गाड़ी घिस रही है।

चौथी अवस्थाः कोई कोई विरले ज्ञानीजन होते हैं जिनके भीतर काम और संकल्प निवृत्त हो चुके हैं। प्रारब्ध वेग के ढलान में जीवन की गाड़ी मधुरता से सरक रही है। बड़े मजे से यात्रा हो रही है।

ज्ञानी में कोई कामना और संकल्प नहीं होता इसलिए कार्यों का बोझ उनको नहीं लगता। उनके द्वारा बड़े-बड़े कार्य संपन्न होते रहते है, फिर भी वे निर्लेप नारायण। अपने सहज स्वाभाविक आत्मानन्द में मस्त। संसारीजन की एकाध दुकान भी होती है तो दिवाली के समय सिर पर हाथ देकर चिन्ता करने लगता है, बोझे से दब जाता है।

जो लोग कामना से आक्रान्त हैं, उनको बड़ी परेशानी होती है। रावण का अधःपतन क्यों हुआ ? कामना से आक्रान्त होकर सीताजी को ले गया। देवता लोग जिसके यहाँ चाकर की नाईं सेवा करें, ऐसे बलवान् रावण का अधःपतन कामना ने कराया।

हनुमानजी जब बन्धन में बँधकर लंकेश के सामने खड़े हुए, तब लंकेश ने पूछाः

"तुम कौन हो ?"

"रामजी का दूत हूँ।"

"सागर पार करके कैसा आया ?"

"गोपद की तरह उसे लाँघकर।"

"मेरे पुत्र को मार डाला ?"

"ऐसे ही भून डाला। मारने की मेहनत नहीं करनी पड़ी।"

"इतना वीर होकर भी तू बँधा कैसे ?"

"मैं अखण्ड बाल ब्रह्मचारी हूँ। अशोक वाटिका में उन राक्षसियों पर अनजाने में दृष्टि पड़ गई, इसलिए बँध गया। मेरी तो अनजाने में नारियों पर दृष्टि पड़ी और मैं फँस गया और तू कामना से प्रेरित होकर जान-बूझकर सीता जी को उठा लाया है तो तेरा क्या हाल होगा यह भी तो जरा पूछ ले ! चाहे तो मैं अकेला तुझे चूर्ण कर सकता हूँ, लेकिन रामजी ने मेरे स्वामी ने कहा है कि पता लगाकर आओ, इसलिए मैं पता लगाने को ही आया हूँ।"

"श्रीयोगवाशिष्ठ महारामायण" में मुनिशार्दूल वशिष्ठजी कहते हैं- "हे रामजी ! ऐसा कौन सा दुःख है जो कामना वाले को नहीं भोगना पड़ता ? ऐसा दुःख नर्क में भी नही है जैसा कामना वाले के हृदय में होता है। ऐसा सुख स्वर्ग में भी नहीं है जैसा निष्कामी व्यक्ति के हृदय में छलकता है।"

अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है तब तक कर्म जोर मारते हैं। आत्मस्वरूप का ज्ञान होते ही कर्म जल जाते है। ऐसे ज्ञानी बड़े-बड़े विशाल आयोजनों का आरम्भ करते हुए दिखते हैं, बड़ी-बड़ी प्रवृत्तियाँ करते हुए दिखते हैं फिर भी अपनी दृष्टि में वे कुछ नहीं करते। सदा अकर्त्ता पद में शान्त प्रतिष्ठित हैं। बाहर से सुख लेने की लालचवाली कामनाएँ ज्ञानाग्नि में जल गई हैं। कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव दग्ध हो जाता है। पहले की चली हुई गाड़ी अब प्रारब्धवेग से ऐसे ही मजे से चल रही है। पेट्रोल का खर्च नहीं, इंजिन की शांति।

व्यक्तित्व को सजाने की कामना वेदान्त के जिज्ञासुओं को अच्छी नहीं लगती। वेदान्त व्यक्तित्व का श्रृंगार नहीं है, भक्ति व्यक्तित्व का श्रृंगार नहीं है, योगमार्ग व्यक्तित्व का श्रृंगार नहीं है। यह तो व्यक्तित्व के विसर्जन की राह है। व्यक्तित्व के विसर्जन में कामना निवृत्त होगी, आप साक्षात् शिवस्वरूप हो जाएँगे, आनन्दस्वरूप हो जाएँगे, ईश्वर-तुल्य हो जाएँगे। फिर आपकी जात और खुदा की जात, आपकी जात और प्रभु की जात एक हो जायेगी, अगर कामना नहीं है तो।

आज का श्लोक बड़ा मधुर लग रहा हा मुझे !

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः।।

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित होते हैं, जिसके समस्त कर्म ज्ञानाग्नि में दग्ध हो गये है, उसको बोधवान् पुरूष तत्ववेत्ता पंडित कहते हैं।'

जिसने केवल तीन मिनट के लिए भी अपने तत्त्व को जान लिया, अपने आत्मस्वरूप को पहचान लिया वह फिर गर्भवास नहीं करता। वह बड़ा महिमावान् हो जाता है। उसके सीने के बाल मात्र से, थोड़ी-सी चरणरज मात्र से अदभुत कार्य हुआ करते हैं। कामनारहित पुरूष की मीठी निगाह भी कइयों का जीवन मधुर बनाने में काफी हो जाती है। कामनारहित पुरूष का दर्शन भी कल्याणकारी बन जाता है तो उसके अपने कल्याण की तो बात ही क्या है ? कामनारहित पुरूष के दर्शन मात्र से जो शांति मिलती है, जो पुण्य मिलता है वह चान्द्रायण व्रत करने से और गंगास्नान करने से भी नहीं मिलता। कामनारहित ज्ञानवान् पुरूष के दर्शन से हारे हुए देवता जीत जाते थे।

दत्तात्रेय कामनारहित पुरूष है। देवता लोग हारकर गिर रहे थे तो दत्तात्रेय की शरण में गये। उनका आशीर्वाद लिया तो जीत गये।

यह तन, धन या कुटुम्बीजन कोई सहारा नहीं है। उनको तो अपना खेल करना है अपनी-अपनी कामनाओं के मुताबिक। न पत्नी सदा साथ रहेगी न पति सदा साथ रहेगा, न बेटा सदा साथ रहेगा न बाप सदा साथ रहेगा।

इसका मतलब यह नहीं कि माता-पिता, पत्नी-पुत्र, परिवार की व्यवस्था न करो। व्यवस्था तो बढ़िया करो, बड़े आदर-मानपूर्वक करो, कुशलता से करो, सबका लालन-पालन-पोषण यथायोग्य करो लेकिन यह नासमझी न करो कि पत्नी मुझे सुख देगी, पति मुझे सुख देगा, बेटे बड़े होंगे तो सुख देंगे, भविष्य हमारा उज्ज्वल करेंगे। नहीं, भविष्य तुम्हारा अब भी परमात्मज्ञान से उज्ज्वल होगा और बाद में भी परमात्मज्ञान से ही उज्ज्वल होगा।

कामना पूरी करने के यत्नों से भविष्य उज्ज्वल नहीं होगा। कामना बढ़ने से भविष्य उज्ज्वल नहीं होगा। कामना मिटा दो तो अभी तुम्हारा वर्त्तमान उज्ज्वल हो जाएगा। जिसका वर्त्तमान उज्ज्वल है, उसके भूत और भविष्य भी झख मारके उज्ज्वल हो जाते है। कामनाएँ, इच्छाएँ वर्त्तमान को दबा देती है, भूत भविष्य की चिन्ता में आदमी को उलझाती हैं।

जहाँ कामना होती है, वहाँ कुमति आ जाती है। जहाँ कामना मिटती है, वहाँ सुमति आ जाती है। रामायणकार कहते हैं-

सुमति कुमति सबके उर रहहिं।
वेद पुरान निगम अस कहहिं।।
जहाँ सुमति तहाँ संपत्ति नाना।
जहाँ कुमति तहाँ विपति निधाना।।

सुमति और कुमति सबके हृदय में रहती हैं। जहाँ सुमति होती है वहाँ नाना प्रकार की संपत्तियाँ अपने-आप आ जाती हैं। जहाँ कुमति होती है वहाँ दुःख के ढेर खड़े हो जाते हैं। कामनावाला व्यक्ति शुभ-अशुभ नहीं देखता। कामनाओं से कुमति होती है। कामनाओं से रहित होने से सुमति आती है। अन्तःकरण मे, बुद्धि में जितनी कामानाएँ अधिक होंगी, उतनी कुमति

अधिक होगी। कामनाएँ जितनी कम, उतनी ही सुमति अधिक होगी। कामना बिल्कुल नहीं है, तो साक्षात नारायण का अंग हो गये। जहाँ नारायण हों, वहाँ लक्ष्मी जी का वास अचल होना ही है। नारायण के सिवाय लक्ष्मी जी कहीं रह नहीं सकतीं। कामनारहित होना तो भगवान नारायण का अंग होना है। वहाँ न चाहने पर भी महालक्ष्मी का वास होता है।

सुमति और कुमति सबके उर में रहती है। कामना करके तुम कुमति को बढ़ाओ अथवा कामना को छोड़कर सुमति को बढाओ, मर्जी तुम्हारी। तुम स्वतन्त्र हो। सुख भोगने की कामना होती हो तो औरों को सुख पहुँचाने की कामना और यत्न करो तो सुख-भोग की कामना मिट जायेगी। मान लेने की कामना हो तो दूसरों को मान देने मे लग जाओ, मान की कामना मिट जाएगी। कामना मिटते ही आपमें अनुपम विलक्षण योग्यता आ जाएगी। आपकी बुद्धि में, आपके मन में अनुपम योग्यता आ जायेगी। तन, मन, बुद्धि में विलक्षण योग्यता लाने के लिए दूसरा उपाय योग भी है। आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि से भी सुषुप्त शक्तियाँ विकसित की जा सकती हैं।

गाँधीनगर से कुछ सज्जन आश्रम में आए हुए थे। किसी विभाग में सचिव आदि थे। आरोग्य खाते में नर्सों की ट्रेनिंग स्कूल चलाते हैं। वे बोल रहे थेः "बापू! जनता की आरोग्यता के लिए सरकार इतना-इतना खर्च कर रही है फिर भी जैसा परिणाम आना चाहिए वैसा परिणाम नहीं आता। कर्मचारियों में, नर्सों में, सेवा की जैसी आन्तरिक भावना होनी चाहिए, वह नहीं दिखती। पगार तो लेते हैं लेकिन पहले जो सेवा होती थी वह अब नहीं होती। उनमें सेवाभाव जग जाय, लोग निरोगी जीवन जियें इस विषय में सरकार कुछ सोच रही है और हम लोग इस विषय में आपसे मार्गदर्शन लेने आए हैं।

हमारा भारतीय जन-साधारण जीवन पाश्चात्य एलोपैथी पद्धति से इतना प्रभावित हो गया है कि दुःखद परिणामों के बावजूद भी अभी तक उधर आकर्षित हो रहा है। डॉक्टर जरा-जरा सी बातों में चीर फाड़ करते हैं, दवाइयाँ और इंजेक्शन लिख देते है। शरीर में 'पोइजन' (विष) भर जाता है, विकृतियाँ हो जाती हैं। लाभ के बदले नुक्सान ज्यादा हो रहा है।"

मैंने उनको बताया कि कुछ रोग औषधियों से हो जाते हैं, कुछ रोग मन की मधुरता से चले जाते हैं और कई रोग तो बुद्धि की विशेषता के कारण नजदीक आते ही नहीं।

रोग का न होना यह कोई आरोग्यता की निशानी नहीं है। वैसे ही रोग का अभाव मात्र तन्दुरूस्ती नहीं है। तन निरोग हो, मन प्रसन्न हो और बुद्धि में ब्रह्मज्ञान का प्रकाश हो तो यह आरोग्यता का पूरा लक्षण है।

मन के रोग को आधि कहते है, तन के रोग को व्याधि कहते है। तन का रोग औषधि से, मंत्र से या आशीर्वाद से मिट जाता है। मन का रोग औषधि आदि से नहीं मिटता। मन का रोग मिटता है निष्कामता से, **कामसंकल्पवर्जिताः** होने से।

मन में आधि क्यों आती है ? उसके पास अमुक चीज है, मेरे पास नहीं है.... 'ऐसा अभाव महसूस करके मनुष्य भविष्य में उस चीज का सुख भोगने का आयोजन करने लगता है तो उस कामना से मन में आधि आ जाती है। मन में आधि आती है तो तन में व्याधि अपने आप घुस जाती है। ये दोनों परस्पर आश्रित हैं। तन बीमार हो तो मन उदास हो ही जाता है। मन में विषाद, उद्वेग, उदासी होती है तो तन भी बीमार पड़ जाता है।

आधि और व्याधि की जननी है कामना। मन में आधि होती है तो तन में व्याधि ले ही आती है। न खाने जैसा खा लेते हैं, न भोगने जैसा भोग लेते हैं और शरीर बीमार हो जाता है। अतः बुद्धि में ज्ञान चाहिए, दृढ़ता चाहिए।

शरीर की व्याधि मिटाने के लिए सिविल हॉस्पिटलें हैं, दवाखाने हैं, आपरेशन थियेटर हैं लेकिन शरीर की व्याधियाँ जहाँ से आती हैं, उस मन की आधि मिटाने के लिए तो कहीं-कहीं कभी-कभी छोटे-छोटे ही साधना-स्थान मिल पाते है।

आधि और व्याधि इन दोनों का मूल कारण है अविद्या, जहाँ से वासना, कामना उत्पन्न होती है। इन कामना-वासनाओं को निर्मूल करने के लिए कभी कहीं विरले ऋषिद्वार बहुत मुश्किल से प्राप्त होते हैं। वे बोधवान ऋषि-महर्षि जब कामना के मूल कारण अज्ञान को दूर कर दें तब आधि और व्याधि सदा के लिए प्रभावरहित हो जाती हैं।

ऐसे भवरोग मिटाने वाले महर्षि आत्मवेत्ता गुरूओं के सान्निध्य में जाना चाहिए। चित्त को कामना से रहित बनाना चाहिए। अज्ञान मिटाकर दिनोंदिन ज्ञान की कला बढ़ानी चाहिए। इच्छा रहित पद में विश्राम पाने का अभ्यास करना चाहिए।

चित्त की विश्रांति सामर्थ्य की जननी है। चित्त की विश्रांति से तन की तन्दुरूस्ती, मन की प्रसन्नता और बुद्धि का प्रभाव बढ़ता है।

चित्त की विश्रांति कैसे मिलती है ? कामनाएँ जितनी कम होती हैं, मन के संकल्प-विकल्प उतने कम होते है। मन के संकल्प-विकल्प जितने कम होते हैं, बुद्धि को उतना कम परिश्रम करना पड़ता है। बुद्धि को परिश्रम कम करना पड़ता है तो वह आत्मचेतना में विश्राम पाती है, बलवान् बनती है। बुद्धि जितनी बलवान् होगी, मन उतना ही अनुगामी बनेगा। इन्द्रियाँ मन की अनुगामिनी होंगी। इस प्रकार इन्द्रियाँ मन के पीछे चलेंगी, मन बुद्धि के पीछे और बुद्धि आत्मरस में तृप्त होगी तो सम्पूर्ण जीवन में वह आत्मरस छलकेगा। जीवन जीने की कला आ जायेगी। इस कला से योगी का योग सफल हो जाता है, भक्त की भक्ति सफल हो जाती है, तपस्वी का तप सफल हो जाता है, जपी का जप सफल हो जाता है, विद्यार्थी अपने विद्याध्ययन में सफल हो जाता है, साधक अपने आत्मज्ञान में जग जाता है। आत्म-विश्रांति ऐसी चीज है।

एकाग्रता से सफलता मिलती है, चित्त की विश्रांति से सामर्थ्य आता है, आत्मदेव तथा आत्मदेव में प्रतिष्ठित सत्पुरूष को स्नेह करने से चित्त में दिव्यता आती है। किसी कामी व्यक्ति

को स्नेह करोगे तो काम आयेगा, लोभी व्यक्ति को स्नेह करोगे तो लोभ बढ़ेगा, मोही व्यक्ति को मोह करोगे तो मोह बढ़ेगा और परमात्मा से स्नेह करोगे तो दिव्यता आयेगी।

स्नेह किये बिना रह नहीं सकते तो ईश्वर को स्नेह करो। कर्म किये बिना रह नहीं सकते तो निष्काम होकर दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए कर्म करो। कामना के बिना रह नहीं सकते तो ऐसी कामना करो कि मैं जगत को स्वप्नवत कब देखूँगा ? मेरे ऐसे दिन कब आएँगे कि राग और द्वेष के हेतु होने पर भी चित्त में राग-द्वेष न पनपे ? मैं ऐसा ज्ञान कब पा लूँ कि फिर माता के गर्भ में न जाना पड़े, जन्म-मरण के चक्कर में न घूमना पड़े ? मेरे ऐसे दिन कब आएँगे कि मैं प्रभु में मिल जाऊँगा ? मेरे ऐसे दिन कब आएँगे कि अपने ईश्वरीय स्वभाव में जग जाऊँगा ? मेरे ऐसे दिन कब आएँगे कि देह रहते हुए देहातीत स्वरूप में जग जाऊँगा ?

इस प्रकार की कामना करोगे तो यह कामना अन्य सब कामनाओं को खा जायेगी। फिर स्वयं भी शांत हो जाएगी। अन्यथा तो सुख-भोग की कामनाओं को पूरी करते-करते कभी अन्त नहीं आएगा, जीवन का ही अन्त हो जाएगा।

यदि एक भी कामना बाकी है तो समझो अभी कई कामनाएँ उसके पीछे-पीछे बाकी हैं। वह एक कामना पूरी होते-होते दूसरी कई कामनाएँ जग जाती हैं।

जो कामनाओं को पूरा करने में लगते हैं वे परेशानियों को आमंत्रण देते हैं। कामनाओं को निवृत्त करने के रास्ते जो चलते है, वे शिव होने के रास्ते चलते हैं।

कामना उठती हैं बेवकूफी से और पूरी होती हैं मजदूरी से। पूरी नहीं होती तो क्षोभ पैदा करती है। कामना को पूरी होने में कोई बलवान् आदमी विघ्न डालता है तो भय पैदा होता है, बराबरी का आदमी बिघ्न डालता है तो ईर्ष्या पैदा होती है, अपने से छोटा आदमी बिघ्न डालता है तो क्रोध पैदा होता है । इस प्रकार कामना से ही भय, ईर्ष्या और क्रोध का जन्म होता है। भय, ईर्ष्या और क्रोध में ये तीनों किसी अन्य जगह से नहीं आते, अपितु कामना के ही परिवार हैं। कामना से ही भय पैदा होता है, कामना से ही ईर्ष्या पैदा होती है, कामना से ही क्रोध पैदा होता है, चिन्ता पैदा होती है। अगर कामना नहीं है तो चिन्ता किस बात की ?

कामना पूरी हो तो क्या और पूरी न हो तो भी क्या ? कामना पूरी हुई तो भी आखिर मिट जाएगी, अगर पूरी नहीं हुई तो भी मिट जायेगी। क्या परवाह है ?

कुछ लोग भूतकाल में सरक जाते हैं, कुछ लग भविष्यकाल में सरक जाते हैं। वर्त्तमान से पीछे फिसले तो भूत, आगे फिसले तो भविष्य। वर्त्तमान में वासना-कामनाओं के दलदल में फँसे तो भी गड़बड़।

न वर्त्तमान की कामनाओं के दलदल में फँसो, न सुख-दुःख को याद करके भूतकाल में पीछे गिरो, न भविष्य में सुख-दुःख की कल्पना करके आगे गिर। वर्त्तमान में ज्ञान के ऊँचे शिखर पर कदम रखकर चलो तो बेड़ा पार हो जाए। ज्ञान जैसा मित्र विश्वभर में कोई नहीं। अज्ञान जैसा शत्रु दुनिया में कोई नहीं। जगत के सारे शत्रु मिलकर तुम्हारा इतना नही बिगाड़

सकते जितना अज्ञान बिगाढ़ता है। दुनिया के सब मित्र मिलकर भी उतना नहीं सँवार सकते जितना आत्मज्ञान सँवारता है और आत्मज्ञान पाना तुम्हारे हाथ की बात है। दुनिया के सब लोगों को मित्र बनाना तुम्हारे हाथ की बात नहीं है। अपनी कामनाओं को पूरी करते-करते युग बीत गये फिर भी मथुरा के भंगेड़ियों की तरह अभी वहीं-के-वहीं हैं।

मथुरा के भंगेड़ी

मथुरा के भंगेड़ी यमुना किनारे गये। खूब भाँग पी। नशे में चूर होने लगे। संध्या का समय था। गगन में पूर्णिमा का चाँद निकल रहा था। एक भंगेड़ी ने सुझाव दियाः "चलो, आज नौका की सैर करें, प्रयाग चलें।"

बाकी के तीनों सहमत हो गये। चारों नाव में बैठे। रातभर पतवार चलाते रहे, परिश्रम करते रहे। सुबह हुई। चारों समझे हम प्रयाग आ गये। इतने में मथुरा की कोई महिला यमुना से पानी भरने आयी। भंगेड़ियों की नजर भी भंगेड़ी। एक ने कहाः "अरे ! यह तो मेरी पत्नी है। यहाँ प्रयाग में ?" आश्चर्य भी हुआ कि हम तो रात भर पतवार चलाते रहे, नाव को खेते रहे, तब पहुँचे हैं और यह यकायक कैसे पहुँच गयी ? ......और फिर बिना पूछे ? वह अपनी पत्नी को गोलियाँ देने लगा।

कोई सज्जन आदमी वहाँ से गुजरा। पूछाः "अरे भाई ! क्या बात है ?"

भंगेड़ी बोलाः "हम कल शाम को मथुरा से नाव में चले थे तो अभी सुबह प्रयाग पहुँचे हैं और यह मेरी औरत बिना पूछे ही यकायक कैसे पहुँच गयी ?

सज्जन ने देखा कि चारों नाव में तो बैठे है, पतवारें भी रातभर चलाईं लेकिन नाव का लंगर खोला ही नहीं। समझते हैं कि हम परिश्रम करके मथुरा से प्रयाग पहुँच गये हैं लेकिन वास्तव में वे यहीं-के-यहीं मथुरा में पड़े हैं। लंगर दिखाया तब उनका नशा उतरा।

ऐसे ही हम जीवन में खूब परिश्रम करते है। समझते हैं कि हमारी जीवनयात्रा हो रही है लेकिन वासना-कामना का लंगर तो उठाया ही नहीं है। हमारी जीवन-नैया वहीं की वहीं संसार के दलदल में उलझी पड़ी है।

एक वे लोग हैं जो ईश्वर को प्यार करते हैं और आवश्यकता संसार की समझते है। दूसरे वे लोग हैं जो आवश्यकता तो ईश्वर की समझते हैं और प्यार संसार की चीजों से करते हैं। दोनों प्रकार के लोग बेचारे ठगे जाते हैं।

आवश्यकता है ईश्वर की और प्यार करते हैं संसार को तो वे लोग ईश्वर का उपयोग भी संसार के लिए करना चाहेंगे।

अरे भैया ! अपने आप पर कृपा करो। अपनी आवश्यकता भी ईश्वर हो और प्रेमास्पद भी ईश्वर हो यह बात जिस दिन समझ में आ जायेगी उस दिन सब कामनाएँ भी अपने आप पूर्ण

होने लगेंगी। इतना ही नहीं, तुम्हारी मनौती माननेवाले का भी बेड़ा पार हो जायेगा। तुम केवल **कामसंकल्पवर्जिताः** हो जाओ। सचमुच तुम साक्षात् नारायणस्वरूप बन जाओगे। जब ईश्वर ही अपना प्रेमास्पद और ईश्वर ही अपनी आवश्यकता बनेगा तब हर रोज मुबारकबादी के दिन होंगे।

सदा दिवाली संत की, आठों प्रहर आनन्द।
निज स्वरूप में मस्त है, छोड़ इच्छा के फन्द।।

हम लोग तो वर्षभर में दो तीन दिन दिवाली मनाते हैं और थक जाते हैं। संत निष्काम होते हैं अतः उनकी हर साँस दिवाली होती है। उनकी तो दिवाली होती है, उनकी महफिल में आने वालों की भी दिवाली हो जाती है।

जगत के फन्द तब तक फन्द नहीं हैं जब तक आप काम संकल्प से आक्रान्त नहीं होते। कार्य तो ज्ञानी भी करते हैं फिर भी निर्लेप नारायण रहते हैं। जगत के किसी फन्दे में फँसते नहीं क्योंकि वे निष्काम हैं।

वासनाएँ होती है अन्तःकरण में। अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जनक ने तो राज्य करते हुए भी उनका कुछ नही बिगड़ा। अगर हम लोग अन्तःकरण से जुड़े रहे तो जीवन में कभी ऊँचाई, कभी निचाई, कभी चढ़ाव, कभी उतार होता ही रहेगा। संतों ने अन्तःकरण को अपना मानना ही छोड़ दिया।

अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होता है तो उसकी एकाग्रता में अपने को सुखी मानते हैं, अन्तःकरण की इच्छा पूरी हुई तो अपने को भाग्यशाली मानते हैं, इच्छा अधूरी रही तो अपने को अभागा मानते हैं। करोड़ों-करोड़ों अन्तःकरण जिसमें पैदा होकर लीन हो रहे है उस वास्तविक 'मैं' का अगर साक्षात्कार कर लिया तो बेड़ा पार हो गया। फिर तुम्हारी वाणी सुनकर लोग पावन हो जाएँगे। ऐसी वाणी सुनने के लिए गोदावरी माँ नारी का रूप लेकर एकनाथजी महाराज के सत्संग में बैठती थीं। ब्रह्मवेत्ताओं की वाणी सुनने के लिए सूक्ष्म जगत के लोग भी आकर बैठ जाते हैं। इच्छारहित होने मात्र से आप इतने महान जाएँगे। इच्छा कर-करके तो आज तक कितनी ही मुसीबतें उठाईं। अब इच्छारहित होकर देखो।

इसीलिए तुलसीदासजी ने गाया होगाः

अब प्रभु ! कृपा करौं एहि भाँती।
सब तजि भजन करउँ दिन राती।।

सब छोड़कर भजन करूँ माने क्या ? खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना छोड़कर भजन करूँ ? नहीं, खाना-पीना आदि तो चलता रहेगा। सब छोड़ने का मतलब है इच्छा, वासना, कामना, संकल्प का त्याग। कामना और संकल्प में ही तो सब छुपा है। कामना और संकल्प छोड़ दो तो दिन-रात भजन होगा। फिर तुम्हारा नौकरी करना भी भजन, दुकान चलाना भी भजन, युद्ध करना भी भजन हो जायेगा। विषय-सुख भोगने की इच्छा ही बन्धन है। इच्छा, वासना-कामना

और संकल्प छोड़कर सब प्रभु का है यह समझकर निष्काम होकर सब व्यवहार करो तो सब भजन हो जाएगा।

युक्ति से कामनाओं को मोड़ो

एक नगर सेठ ने सपना देखा कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ..... दाँत गिर गये है..... मुँह खोखला हो गया है..... चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं..... बाल सफेद हो गये हैं.... कमर झुक गई है। सुबह उठा और नगर ज्योतिषियों को बुलाया। काफी ज्योतिषी इकट्ठे हो गये। बड़ा जाना-माना सेठ था। अपने सपने की बात कही और सपने की फलश्रुति बताने को कहा।

उन ज्योतिषियों में दो मूर्धन्य ज्योतिषी थे। सपने की फलश्रुति सुनाने में प्रगाढ़ विद्वान थे। एक ने कहाः "सेठ जी ! आपका सपना बड़ा खतरनाक है, बड़ा दुःखद है। सपना संकेत करता है कि आपके होते- होते आपके सारे कुटुम्बी मर जाएँगे।

यह सुनकर सेठ तो दुःखी हो गये। अपने समग्र परिवार का ऐसा करूण अंजाम ! हाय राम !

दूसरा ज्योतिषी काम-संकल्पवर्जित होने के मार्ग पर था। उसने कहाः "सेठजी ! घबराओ मत, दुःखी मत हो। इन्होंने जितना बताया उतना यह सपना खतरनाक नहीं है। तुम बेकार में डर रहे हो। इस सपने की फलश्रुति सुनाने में मुझे जरा विचार करना पड़ेगा। मैं कल बताऊँगा। आप निश्चिंत हो जाओ। शोक करने की कोई बात ही नहीं है।

सेठ का एक दिन बड़ी व्याकुलता से बीता। उनको इच्छा-कामना संकल्पों ने घेर लिया था। हाय ! मेरा क्या होगा ? ऐसा सोचकर शोक सागर में गोते खाने लगे।

दूसरे दिन वह ज्योतिषी आया और खुशी भरे स्वर में बोलाः

"सेठजी ! सेठजी ! मैंने जैसा सोचा था ऐसा ही हुआ। आपके बुढापे के दृश्यवाला सपना बिल्कुल अमंगल नहीं है। वह सपना बताता है कि आप दीर्घायु होंगे। आप इतने दीर्घजीवी होंगे कि आपके किसी भी कुटुम्बी को आपकी मृत्यु देखने का अवसर ही नहीं आयेगा।"

बात वही-की-वही थी। कल वाले ज्योतिषी ने जो फलश्रुति बताई थी वही की वही फलश्रुति उसने ऐसी मधुरता से कही कि सेठजी ने उस ज्योतिषी को इनाम दे दिया।

ऐसे ही अपनी इच्छाओं को भी मोड़ने का तरीका होता है। इच्छाएँ उठती हैं मन में, तो मन को समझा दो, फुसला दो युक्ति से। सौ इच्छाएँ उठे तो सौ की कर दो साठ... आधी कर दो काट.... दस देंगे... दस छुड़ायेंगे.... दस के जोड़ेंगे हाथ। अभी तो आराम करने दो यार !

रामनाम की मधुरता पियेंगे, रोम-रोम में रमने वाले अन्तर्यामी अपने आत्मदेव का अमृत पियोगे तो इच्छाएँ सौ भी नहीं रहेंगी और दस भी नहीं रहेंगी। जब कोई इच्छा नहीं रही तो सारी इच्छाएँ पूरी करने वाले लोग तुम्हारे इर्द गिर्द आकर, हाथ जोड़कर विनीत भाव से तुम्हारी सेवा में लग जाएँगे।

आप तो साक्षात नारायण का अंग है, लेकिन इच्छाएँ आपको जीव बना रही है।

चाह चमाड़ी चूहड़ी, अति नीच की नीच।
तू तो पूरन ब्रह्म था, जो चाह न होती बीच।।

राजस और तामस इच्छाएँ दुःखदायी हैं। सात्त्विक इच्छाएँ संतों के पास ले जाती हैं। वे इच्छाएँ जब परमात्मा को पाने की बन जाती हैं तब सात्त्विकता की पराकाष्ठा होती है। साधक जब चाहरहित हो जाता है, चाहरहित पद में ठहर जाता है तो उसका उद्धार हो जाता है। फिर उसका जीवन बड़ा मधुर बन जाता है। प्रारब्ध वेग से उसको धन मिले न मिले, सत्ता मिले न मिले, रोग, बुढ़ापा आवे तो भी मैं बीमार हूँ..... मेरा बुढ़ापा है.... मुझ पर मुसीबतें आयी है.... मैं दुःखी हूँ..... ऐसा नहीं मानता। वह अकर्त्ता-अभोक्ता पद में स्थित होकर निर्लेप नारायण बन जाता है। सारी कामनाएँ और कर्म उसके कट जाते हैं।

कामनाएँ और संकल्प वर्त्तमान की शांति, निश्चिन्तता और आनन्द को खा जाते हैं। व्यक्ति को अशांत बना देते हैं। ज्ञानी वर्त्तमान में काम करते हैं। निष्काम होकर भविष्य के विषय-सुख की आकांक्षा नहीं करते इसलिए उनका वर्त्तमान का आत्मसुख छलकता है। उस आत्मसुख के प्रकाश से उनकी बुद्धि की योग्यता जन-साधारण लोगों से विलक्षण बनी रहती है।

कामनाएँ ही व्यक्ति की योग्यता क्षीण कर देती हैं। चिन्ता, भय, शोक, विषाद, ये सब कामनाओं की उपज हैं। कामनाएँ उठती हैं अज्ञान से, नासमझी से, चित्त की मलिनता से। मलिनता से चित्त में कामना उठती है और चित्त को और ज्यादा मलिन करती है। चित्त की शुद्धता से कामनाएँ सात्त्विक होती हैं और चित्त अधिक शुद्ध होता है। चित्तशुद्धि करते करते कामनाएँ काटी जाती हैं।

स्वामी विवेकानन्द और नर्तकी

स्वामी विवेकानन्द का नाम पहले विविदिशानन्द था। वे माउन्ट आबू गये थे तब खेतड़ी के महाराजा से भेंट हुई। स्वामीजी से मिलकर महाराजा बड़े प्रभावित हुए और उनको खेतड़ी आने का प्रेमभरा आमंत्रण दिया। विविदिशानन्द वहाँ गये तो इन विरक्त संन्यासी के स्वागत में महाराजा ने राजनर्तकी के नृत्य का आयोजन किया। एक संन्यासी और उनके इर्दगिर्द सब नर्तकियाँ नाचगान करने लगीं। विविदिशानन्द तो थे इच्छा रहित, काम-संकल्पवर्जित। तभी तो महाराजा पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने सोचाः 'यह क्या ? मैं संन्यासी.... मुझे इस नाचगान से क्या लेना देना ?' उठकर चल दिये।

एक नर्तकी उनको रोककर चरणों में गिर पड़ी और प्रार्थना करने लगीः "स्वामी जी ! हम तो पतित लोग हैं। आप पतितों को पावन करने वाले महात्मा हैं। हम तो जैसे तैसे हैं लेकिन आप महापुरूष हैं। आपके श्रीचरणों में एक गीत भी पेश करने का मौका नहीं मिलेगा तो हमारा गाना, नाचना और जीना व्यर्थ हो जायेगा। कुछ भी हो, कृपा करो। मैं सूरदास जी का भजन सुनाती हूँ। आप बैठिये, स्वामी जी ! इतनी कृपा कीजिए।"

महाराजा ने भी हाथ जोड़कर विनती की। विविदिशानन्द आसन पर बैठें। नर्तकी ने नाभि केन्द्र से मधुर स्वर से आलापते हुए भजन गायाः

प्रभु ! मोरे अवगुण चित्त न धरो।
समदरशी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो।।
एक नदिया एक नार कहावत मैलो ही नीर भरो।
जब मिल करके एक बरन भये सुरसरि नाम पर्यो।।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक पर्यो।
पारस गुण अवगुण नहिं चितवत, कंचन करत खरो।।
यह माया भ्रम-जाल कहावत सुरदास सगरो।
अबकी बेर मोहिं पार उतारो, नहि प्रन जात टरो।।

स्वामी विविदिशानन्द का हृदय भावविभोर हो गया। वे आसन से उठे और नर्तकी को प्रणाम करते हुए बोलेः

"माता ! मुझे क्षमा करना। मैं तेरी अवहेलना करके जा रहा था। मैं भूल गया था कि प्राणिमात्र में कुछ-न-कुछ योग्यता होती ही है। तुझमें भी कई छुपी हुई योग्यताएँ मैं देख रहा हूँ।"

नर्तकी ने उसी समय कीमती वस्त्र-आभूषण, रत्नजड़ित अलंकार-गहने सब उतारकर फेंक दिये और संन्यास के गेरूए वस्त्र धारण कर लिये। विविदिशानन्द के दो-पाँच मिनटों के संग से नर्तकी ने राजवैभव की भेंट-सौगातें, निवास और वेतन सब ठुकरा दिये और संन्यासिनी बन गई।

इच्छाओं में दम नहीं। अगर आपका विवेक जगे तो एक ठोकर से कामनाओं का किला धराशायी हो सकता है। तुलसीदास को पत्नी ने ताना मारा और वे चल पड़े ईश्वर के मार्ग पर। भक्त-कवि संत तुलसीदासजी बन गये।

हम लोग छोटे तब बनते हैं जब कामना को पोसने में लगते हैं। अगर जग जायें तो हमारी जाति और ईश्वर की जाति एक ही है। वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, पटेल, सिंधी, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी, मराठी – यह तुम्हारी जाति नहीं है, तुम्हारे शरीर की जाति है। ये सब शरीर के कुल-जाति-धर्म हैं।

खेतड़ी के महाराजा ने स्वामी विविदिशानन्द से कहाः

"स्वामी जी ! आपका नाम कठिन पड़ता है बोलने में और उसक अर्थ समझने में सब लोग सफल नहीं होंगे। नाम कुछ सरल होना चाहिए।"

स्वामी जी को राजा से स्नेह हो गया था। वे बोलेः

"जो आपको अच्छा लगे, वह नाम रख दो।"

महाराजा ने कुछ समय सोचकर कहाः "आपका नाम विवेकानन्द रखें तो ?"

"अच्छा है, शिरोधार्य है। " स्वामी जी ने स्वीकृति दी। तबसे उनका नाम विवेकानन्द हो गया।

खेतड़ी के महाराजा ने स्वामी विवेकानन्द के कार्यों में बड़ा सहयोग दिया। स्वयं विवेकानन्दजी ने अपने श्रीमुख से कहा था किः "राजा साहब ने मेरे सनातन धर्म के सेवाकार्य में बड़ा सहयोग दिया है और मेरा कार्य विकसित हुआ है। राजा साहब का बड़ा योगदान है।"

बाद में स्वामी विवेकानन्द ने खेतड़ी में संस्था भी स्थापित की, जिसका संचालन अब स्वामी रामकृष्ण मठ द्वारा होता है।

ऐसे लोग तो चले जाते हैं लेकिन उनकी मधुर गाथा रह जाती है। मधुरता तब आती है, जब व्यक्तिगत स्वार्थ क्षीण हो जाता है। राजा का व्यक्तिगत स्वार्थ होता तो विवेकानन्द जी के कार्यों में थोड़े ही योगदान दे सकते ! समय और शक्ति का खर्च कर सकते !

व्यक्ति की अपने वैयक्तिक सुख की लालच जितनी क्षीण होती है, उतना वह समाजहित के मधुर कार्य कर जाता है।

विश्व के जो भी बड़े-बड़े कार्य हुए हैं, वे ज्ञानियों के द्वारा हुए हैं, निष्काम पुरुषों के द्वारा हुए हैं। अज्ञानी और कामनावाले क्या खाक करेंगे ? जो भी मधुर कार्य हुए हैं, लोकहित के कार्य हुए हैं, समाज गठन के कार्य हुए हैं, समाज को उन्नत करने वाले कार्य हुए हैं, वे अपने वैयक्तिक सुख की कामना छोड़नेवाले लोगों के द्वारा ही हुए हैं।

वेदव्यासजी महाराज ने इतने सारे शास्त्र रचे, संत तुलसीदासजी, संत सूरदासजी, नरसिंह मेहता आदि कवित्व शक्तिवाले संतों ने सत्साहित्य प्रदान किया। उन्होंने व्यक्तिगत सुख के संकल्प छोड़े। **कामसंकल्पवर्जिताः** के मार्ग पर चले। अपने संकल्प घटाये, बढ़ाये नहीं।

अपने सुख के संकल्प घटाने के लिए दूसरों को सुख पहुँचाने के संकल्प करो। जो दूसरों को सुख पहुँचाता है, वह स्वयं दुःखी कैसे रह सकता है ? दूसरों को मान देने वाला अपमानित कैसे रह सकता है ? दूसरों का मंगल करने वाले का अमंगल कैसे हो सकता है ? बाहर से चाहे अमंगल होता दिखे लेकिन वास्तव में ऐसा होता नहीं। उसका भविष्य बड़ा मंगलमय बन जाता है।

जगदगुरू शंकराचार्य सात वर्ष के थे। बड़े मातृभक्त। उनकी माँ आलवाई नदी में प्रतिदिन स्नान करने जातीं और भगवान केशव के मंदिर में जाकर उपासना करतीं। उनका यह पक्का नियम था।

एक दिन माँ नदी पर गई तो वापस नहीं आई। नन्हे शंकर को बड़ी चिन्ता हुई। रास्ते में जाकर देखा तो बुढापे के कारण माँ को चक्कर आये और वह गिरी पड़ी है। बेटा माँ की सेवा में लग गया। माँ की चेतना वापस लौटी। बेटे शंकर ने भगवान से प्रार्थना कीः "हे प्रभु ! नदी हमारे घर से इतनी दूर है और माँ को तो रोज जाना ही है स्नान करने। ......तो हे परमात्मा ! तू नदी का रूख बदल दे ताकि वह हमारे घर के करीब से बहे। तेरे लिए असंभव ही क्या है नाथ !"

हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिन के बाद जोरों की बारिश आयी। नदी में बाढ़ आयी और प्रवाह का रूख बदल गया। फिर उनके घर की ओर से नदी बहने लगी।

प्रकृति में जो होनहार होता है, वही सज्जन पुरूषों के हृदय से प्रार्थना के रूप में निकल आता है और वह सफल हो जाता है।

जो व्यक्ति **कामसंकल्पवर्जिताः** होता है वह बाह्य अनुकूलता में भी समरस रहता है और प्रतिकूलता में भी उसकी भीतर की स्थिति बड़ी मधुर होती है।

गांधारी और श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण, धृतराष्ट्र, गांधारी आदि कहीं जा रहे थे। गांधारी ने श्रीकृष्ण से कहाः "अगर आप चाहते तो कौरवों का विनाश रूक सकता था। महाभारत के युद्ध में मेरे सब पुत्र मारे गये। कृष्ण ! आप चाहते तो यह नहीं होने देते।"

वास्तव में श्रीकृष्ण के चाहने पर यह नहीं होता, यह बात सही है फिर भी वासना से आक्रान्त व्यक्तियों के कुछ कर्म ऐसे होते हैं कि उनको बचाने के लिए श्रीकृष्ण की चाह ही नहीं उठती। कौरवों के पाप इतने बढ़ गये थे कि उनके लिए युद्ध होना अनिवार्य हो गया था इसीलिए श्रीकृष्ण की चाह पैदा नहीं हुई।

गाँधारी ने श्रीकृष्ण को श्राप दियाः "तुमने मेरे बेटों को महाभारत के युद्ध में मरवा दिया तो जाओ, 36 साल के बाद तुम्हारा परिवार भी नष्ट हो जायेगा।"

श्रीकृष्ण मुस्कुराये। बोलेः "कोई बात नहीं। यह भी होनहार है, होने वाला है तो इसको भी देख लेंगे। गांधारी ! जो होने वाला है वही तेरे द्वारा श्राप होकर आया है। ठीक है।"

श्रीकृष्ण की जगह पर दूसरा व्यक्ति होता तो दुःखी हो जाता।

जो होने वाला वही किसी के श्राप द्वारा या वरदान द्वारा आता है। नियति में ऐसा होता है। पुरूषार्थ करके, दृढ़ संकल्प करके परिस्थितियों में कुछ परिवर्तन तो होता है इसमें कोई सन्देह नहीं। साथ-ही-साथ यह भी समझना होगा कि परिस्थितियों से प्राप्त जो सुख है वह भी तो परिवर्तनशील है।

कामसंकल्प से आक्रान्त वासनावान व्यक्ति परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए चिन्ता, भय, शोक करता है, भविष्य पर निर्भर करता है। परिस्थिति कितनी भी अनुकूल बनेगी, प्रतिकूल बनेगी, उसका प्रभाव तन तक रहेगा, मन तक रहेगा। तन और मन वास्तव में हम हैं नहीं। अपने वास्तविक स्वरूप पर निगाह नहीं है इसलिए इन साधनों को मैं मानकर तप रहे हैं, भुन रहे हैं। इस प्रकार तपते-तपते जीवन खत्म हो जाता है, पर संघर्ष-विघ्न-बाधाएँ खत्म नहीं होतीं। मौत खत्म नहीं होती। वह एक शरीर को मारकर फिर दूसरा बनाती है। उसको भी मारकर तीसरा बनाती है। इस प्रकार शृंखला चलती रहती है।

शरीर, मन, बुद्धि ये अनात्मा हैं, प्रकृति की चीजें हैं। इनको कितना भी सुख पहुँचाओ, अनुकूल रखो फिर भी फरियाद बनी रहेगी, इनका परिवर्तन बना रहेगा। जो हम हैं, हमारा जो

वास्तविक स्वरूप है वह ज्ञानस्वरूप है। वह ज्यों का त्यों रहता है। उसमें जो टिक जाते है वे काम-संकल्पवर्जित हो जाते हैं। जो शरीर में या परिस्थितियों में उलझते रहते हैं उनके संकल्पों का, वासनाओं का अंत नहीं आता। शरीर का अन्त हो जाता है तो दूसरा शरीर धारण करने के लिए भटकना पड़ता है। दूसरा शरीर धारण करने के लिए भटकना पड़ता है। दूसरा शरीर ले लिया तो वहाँ भी वही चक्कर। इसीलिए शास्त्रों में कहाः **यस्य ज्ञानमयं तपः।** तप तो करें लेकिन उस तप में आत्मज्ञान का प्रभाव हो। तप ज्ञानसंयुक्त होना चाहिए। योगमार्ग का ज्ञान हो तो साधक थोड़े ही दिनों में साधना के ऊँचे शिखर सर कर सकता है। ज्ञान न हो तो वह वर्षों तक घूमता रहता है।

हमारी रीढ़ की हड्डी में से एक नाड़ी जाती हैं। रीढ़ के आखिरी मनके से लेकर मस्तक के ऊपर तक। इस नाड़ी में अलग-अलग स्थानों पर सात चक्र हैं- मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा और सहस्रार। सबसे नीचे गुदाद्वार के पास मूलाधार चक्र है। उसकी पंखुड़ियाँ रक्तवर्ण हैं। 1200 श्वास चले उतनी देर योगाभ्यासी साधक मूलाधार चक्र में अपनी चित्तवृत्ति को स्थापित कर दे और श्वासों को निहारता रहे तो शारीरिक बल बढ़ता है, कुछ अंश में चित्त की प्रसन्नता प्राप्त होती है। वर्ष पर्यन्त यह अभ्यास करे तो सत्यसंकल्प आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

दूसरे वर्ष में दूसरे केन्द्र स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान का अभ्यास करे तो कवित्व शक्ति प्रकट होती है। दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि की योग्यताएँ आ जाती हैं। इस प्रकार अलग अलग चक्रों के अभ्यास का फल प्राप्त होता है।

योगाभ्यास में योगसिद्धि के फल की प्राप्ति का संकल्प तो है, कामना तो है लेकिन यह मधुर संकल्प है, विषय भोगने का तुच्छ संकल्प नहीं है। विषयों का सदुपयोग करने का संकल्प है। तुलसीदासजी, सूरदासजी आदि में कवित्व प्रकट हुआ तो इन भक्त कवियों ने समाज को कितना बढ़िया साहित्य प्रदान किया !

मेधावी बालकः शंकराचार्य

शंकराचार्य जी सात वर्ष के थे तब उनकी प्रार्थना के मुताबिक नदी का प्रवाह बदल गया। उनके पास संन्यासी लोग पढ़ने आते थे। वे शास्त्रों का सुन्दर अर्थ लगाते थे।

बालक शंकर की दिव्य शक्ति की बात सुनकर केरल के राजा राजशेखर बहुत ही विस्मित हुए। राजा स्वयं भी एक अच्छे विद्या-व्यासंगी, शास्त्रवेत्ता विद्वान थे। इतना ही नहीं, विशेष भक्तिभावयुक्त भी थे और विद्वानों का उचित आदर भी करते थे। सात वर्ष के एक ब्राह्मण बालक में इस प्रकार की विद्वता और दिव्य शक्ति की बात सुनकर उससे मिलने की विशेष इच्छा हुई। उन्होंने उपहार के रूप में शंकर को देने के लिए प्रधानमंत्री के साथ हाथी भेजा और राजमहल में पधारने के लिए निमंत्रण दिया। मंत्री ने जाकर अत्यन्त विनय के साथ राजा की इच्छा प्रकट की।

शंकर ने कहाः "हे दानवीर ! भिक्षा ही जिनकी जीविका है, मृगचर्म जिनका वस्त्र है, सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन-अध्यापन तथा गुरूसेवा ही जिनक नित्यव्रत है, उन्हें हाथी से क्या काम ? हे मंत्रीवर ! आप अपने प्रभु से मेरा उत्तर बताकर कहिएगा कि ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टय अपने-अपने धर्म का आचरण कर धर्मजीवन निभा सकें, उसकी व्यवस्था करना ही राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। प्रलोभन देकर उन्हें विषय में आकर्षित करना कदापि राजा का कर्त्तव्य नहीं है।"

इतना कहकर उन्होंने राजमहल में जाने का निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। शंकर के ऐसे व्यवहार से रूष्ट न होकर राजा राजशेखर शंकर के प्रति और भी अधिक श्रद्धावान हुए। मंत्रियों के साथ वे स्वयं एक दिन कालाड़ी ग्राम में शंकर के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आकर देखा कि शंकर मृगचर्म पहने हुए हैं। कमर में मुंजमेखला तथा देह पर शुभ्र यज्ञोपवीत है। उनके चारों ओर ब्राह्मण लोग शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं। शंकर ने राजा को यथायोग्य सम्मान देते हुए स्वागत किया। बालक होने पर भी उनका व्यवहार प्रवीण लोगों की तरह था।

केरलाधीश शंकर का ज्ञान देखने आये थे। अल्प समय की शास्त्र-विवेचना से ही शंकर के गम्भीर पाँडित्य, तीक्ष्ण बुद्धि और असाधारण विचारशक्ति का परिचय पाकर राजा बहुत विस्मित हुए। स्वरचित 'बालभारत' और 'बालरामायण' आदि संस्कृत नाटक शंकर को सुनाये और उनकी सूचना के अनुसार बहुत कुछ संशोधन भी कर लिया। राजा को बड़ा आनन्द हुआ। आखिर में शंकर के चरणों में अनेक सुवर्ण मुद्राएँ अर्पित कीं, तो शंकराचार्य बोलेः

"ब्राह्मण का धन तो तप है, शास्त्रों का अध्ययन है। प्रश्न रहा आजीविका का, उतना तो मिल ही जाता है। आपकी हजारों सुवर्ण मुद्राएँ लेकर मैं कहाँ सँभालूँगा ?"

राजा ने कहाः "अब तो मैं दे चुका। मेरा दान का संकल्प है, आप स्वीकार कीजिए। किसी अच्छे काम में लगा दीजिए।"

"राजन ! धन को अच्छी जगह लगाने की योग्यता तो राजा में ही होती है। संत, साधू, ब्राह्मण तो विद्या को अच्छी जगह पर लगा सकते हैं। दान को अच्छी जगह लगाने का काम तो राजा का है। उतना समय और चिन्तन हम उसमें नहीं लगा सकते। आपसे दान लेकर फिर उसका सदुपयोग करने के लिए अच्छी जगह खोजूँ तो मेरा समय बरबाद होगा। यह कार्य करना तो राजा का कर्त्तव्य है।"

सात वर्ष की उम्र में ही शंकराचार्य **कामसंकल्पवर्जिताः** की स्थिति में थे। 32 वर्ष तक जिये और ऐसे कार्य कर गये कि आज भी उनके नाम की गद्दियाँ कायम हैं। जो विषयों में सुख खोजते हैं उनकी क्षमताएँ और शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। वे भोगवादी चिन्तित और भयभीत बन जाते हैं। जो कामना और संकल्प छोड़ते हैं वे निर्भीक और निश्चिंत रहते हैं। निरतिशय सुख पाने की उनकी क्षमता विकसित होती है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है इच्छाओं और कामनाओं को छोड़ने से। आत्मज्ञान की इच्छा भी इच्छा तो है लेकिन वह इच्छा अन्य इच्छाओं को हटाकर स्वयं भी अन्त में हट जाती है और आत्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। इसलिए प्रभुप्राप्ति की इच्छा, इच्छा होते हुए भी इच्छा मे नहीं गिनी जाती।

जीव का वास्तविक स्वरूप आत्मा है। गुरूकृपा से उस स्वरूप की प्राप्ति होती है। ऐसे ज्ञानवान के सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्परहित होते हैं। उसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं। जैसे सूर्यनारायण के उदय होने मात्र से जगत के कार्य अपने आप शुरू हो जाते हैं वैसे ही बोधवान् पुरूष की उपस्थिति मात्र से जीवों के कल्याण कार्य स्वतः होने लगते है। लोगों की दृष्टि में ज्ञानी बड़े-बड़े कार्य करता हुआ दिखेगा, लेकिन अपनी दृष्टि में वह कभी कुछ नहीं करता। अष्टावक्रजी कहते हैं-

अकर्तृत्वं अभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः।।

योगी जब अकर्त्ता और अभोक्ता पद में स्थित होता है तब उसके सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। ज्ञानी के सारे-के-सारे कर्म प्रकृति में होते हैं, अन्तःकरण में होते हैं, साधनों में होते हैं, आत्मस्वरूप में नहीं होते। वही आत्मस्वरूप जीवमात्र का अपना आपा है। लेकिन कामना और संकल्प करके वह स्वरूप से बाहर भटकता है। आत्मशांतिरूपी खेत को इच्छारूपी ओले बिखेर देते है। अतः जितना हो सके उतना अलग रहकर आत्मदृष्टि से जीना चाहिए। ज्ञानी के सुख के आगे सारे विश्व के विषयों का सुख क्या होता है ? स्वर्ग का साम्राज्य हो, सुन्दरियाँ झाड़ू-बुहारी करती हों, ऊर्वशी और रम्भा जैसी अप्सराएँ फूलों की शैय्या बिछाकर कंठ लगें, पीने को अमृत दें, चरणचम्पी करें, इन्द्रियों के सब भोग लाकर रख दें, उन सबको भोगते-भोगते भी उतना सुख नहीं होता, जितना सुख ज्ञानी को कुछ न करते हुए अपने-आपमें मिलता है। सुख पाने के लिए ज्ञानी को कुछ नहीं करना पड़ता।

वेश्या धन से, क्षत्रिय बल से, शूद्र उम्र से, ब्राह्मण शास्त्रज्ञान से बड़े माने जाते हैं। ब्रह्मवेत्ता ऐसे अनुभव को पाता है कि एक में सब और सबमें एक अखण्ड सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, नित्यमुक्त अपने स्व-स्वभाव में जात-पाँत, बड़प्पन-छोटापन सबसे पार परमानन्दस्वरूप में जग जाते हैं। धन्य हैं ऐसे ब्रह्मवेत्ता और धन्य हैं उनके अनुभव को अपना अनुभव बनाने वाले सत्शिष्यों को !

शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए चक्रपाणि भगवान विष्णु जगत का पालन करते हैं, फिर भी उनको कोई बोझ महसूस नहीं होता, क्योंकि वे सदा आत्मस्वरूप में मस्त हैं। सूर्यनारायण आकाश में स्थित हैं निरालम्ब। सृष्टि के सारे व्यवहार उनकी हाजिरी मात्र से होने लगते हैं। सूर्यनारायण जीवन्मुक्त हैं। उनको हमारा नमस्कार ! भगवान साम्ब सदाशिव,

चन्द्रशेखर, सदा अपनी आत्म-समाधि में, आत्मसुख में समाहित हैं। ऐसे भगवान शंकर को नमस्कार है !

जीवमात्र में वही चेतना है परन्तु जो उसमें टिके हैं वे भगवत्स्वरूप हैं और जो उससे विमुख हैं, देह को मैं मानकर संसार के तुच्छ सुखों में अपना जीवन बरबाद कर देते हैं वे लोग पशुधर्मा हैं।

उमा तिनके बड़े अभाग।
जे नर हरि तजि विषय भजहिं।।

जो लोग आत्मध्यान, आत्मसुख, हरितत्त्व का रस छोड़कर संसार के विषय-विकार में सुख खोज रहे हैं उनके बड़े अभाग हैं। वे अपना भविष्य अन्धकारमय बना रहे हैं। फिर पछताएँगे।

सो परत्र दुःख पावई, सिर धुनि-धुनि पछितावहिं।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगावहिं।।

मृत्यु की शैया पर पड़ेंगे तब सब छूट जाएगा। अकेले जाएँगे, पशुयोनि में गिरेंगे, कोई छुड़ाएगा नहीं। वृक्ष बन जाएँगे, कुल्हाड़े के प्रहार सहेंगे, कोई छुड़ाएगा नहीं। अतः अभी कुछ कर लो जिससे बाद में पछताना न पड़े।

गाफिल ! अजु सोचत नहीं, वृथा जनम गँवाय।
तेल घटा बाती बुझी, अन्त बहुत पछताय।।

आयुष्यरूपी तेल खूट जायेगा तो श्वासोच्छ्वासरूपी बाती बुझ जायेगी। शरीररूपी दीया अन्धकारमय हो जायेगा। लोग उसे भस्म कर देंगे। इसके पहले तू समय का सदुपयोग कर ले भैया !

उमा संत समागम सम, और न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा उपजै नहीं, गावहिं वेद पुरान।।

शिवजी ने भगवती उमा से ऐसा नहीं कहा कि 'स्वर्ग-समागम सम'। नहीं। स्वर्ग का अमृत पीने से आदमी के पुण्य खत्म होते हैं जबकि संत-समागम से पाप खत्म होते हैं और अगर आत्मा में टिकाने वाला अमृत मिलता है।

जिनकी गोद में भगवान श्रीरामचन्द्रजी खेले हैं ऐसी कौशल्याजी, सुमित्रा और कैकेयी अपने आत्मोद्धार के लिए एकान्तवास में अपना शेष जीवन बिताने के लिए जाती हैं। श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं: "माँ ! मैं जब इस राज्य के कार्यभार से थकता हूँ, ऊबता हूँ तब तेरी गोद में सिर रखकर विश्रांति पाता हूँ। माँ ! तू एकान्तवास में, अरण्य में जाने की बात मत करना।"

तब कौशल्याजी कहती हैं- "हे राम ! आप ये मोह-माया के वचन बोलते हैं ? आप तो भगवान हैं ! भगवान तो मोह-माया से छुड़ाते हैं। ये ममतापूर्ण वचन बोलकर आप मुझे आश्चर्य में डालते हैं ! मनुष्य को अपना शेष जीवन एकान्तवास में बिताकर अपना आत्मोद्धार करना

चाहिए। अगर आपके पिता महाराजश्री स्वर्ग में न सिधार गये होते तो हम लोग उनके साथ वानप्रस्थ जीवन बिताने अरण्य में गये होते। अब हम लोगों को अकेले किसी शांत, निर्जल, पवित्र स्थान में, इस संसार की मोह-माया से दूर, कुटुम्ब-परिवार के आकर्षणों से दूर, शुद्ध सात्त्विक स्थान में जाना है।

हे राम ! जीव अपने-अपने कर्म से, संकल्पों से बँधकर संसार में क्रीड़ा करता है और आपकी माया ऐसा प्रतीत कराने लगती है कि 'इतना हो जाय तो शांति.... इतना हो जाय तो शांति.....' ऐसा करते-करते काल उसे कब अपना ग्रास बना लेता है यह पता ही नहीं चलता है। अतः शीघ्रातिशीघ्र अपना ऐहिक व्यवहार व्यस्क बच्चों को सौंपकर मनुष्य को अपना उद्धार कर लेना चाहिए।"

कौशल्याजी ने ज्ञान एवं वैराग्यपूर्ण बातें कहीं। श्रीरामचंद्रजी को माता कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी को एकान्तवास में भेजना पड़ा।

कौशल्याजी अयोध्या की राजमाता थीं, भगवान श्रीराम की माता थीं। अपने सब पुत्र आनंद देने वाले एवं आज्ञापालक थे। पुत्रवधुएँ भी सेवाभावी, प्रेमपूर्ण एवं सुख देने वाली थीं। नौकर-चाकर भी तत्परता से चाकरी करने वाली थे। ऐसा कोई दुन्यावी सुख या दुन्यावी वैभव न था कि जो कौशल्याजी को अप्राप्य हो। यह सब होने पर भी, आज्ञापालक पुत्र, पुत्रवधुएँ एवं परिवार तथा राज्य के मोह को किनारे रखकर वे सुमित्रा और कैकेयी के साथ तपस्या करने के लिए वनगमन करती हैं, रामराज्य छोड़कर आत्मराज्य में जाती हैं।

आपके पास क्या है ? बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा, सम्राट भी अपना सब कुछ छोड़कर सर्वेश्वर परमात्मा के राज्य की ओर प्रयाण करते हैं। आपके पास जो मकान-दुकान, घर-परिवार, पद-प्रतिष्ठा, व्यापार-धंधा है वह उनकी तुलना में कुछ भी नहीं है।

आप माता हो या पिता, भाई हो या बहन, यह सब संबंध आपके देह के संबंध हैं। वास्तव आप अपने उद्धारक बनने के लिए जब तक तत्पर नहीं बनोगे तब तक ये संबंध, व्यवसाय आपको बाँधते ही रहेंगे। गुजराती भक्त कवि अखाजी ने ठीक ही कहा हैः

अखो कहे अंधारो कूवो, झगड़ो मटाड़ी कोई न मूंओ।

जगत का सब निपटाकर, आज तक कोई शांति से मरा नहीं है। 'सब निपटाकर, सब व्यवस्थित करके, अनुकलता करके फिर भजन करेंगे.....' कुछ लोगों को ऐसा भ्रम होता है। व्यवस्था करके, अनुकूलता जुटाकर फिर भजन करने का इन्तजार नहीं करना चाहिए। शीघ्र ही साधन-भजन में लग जाना चाहिए। अनुकूलता और व्यवस्था तो होती रहेगी। ज्यों-ज्यों भजन का प्रभाव बढ़ेगा त्यों-त्यों अवरोध, विघ्न दूर होते जाएँगे। ईश्वर के मार्ग में आगे बढ़ने की अनुकूलता बनती जाएगी।

एक ईश्वर ही सार है और वह अन्तर्यामी आपकी आत्मा है। बाहर के शोरगुल एवं इन्द्रियों के आकर्षणों से बुद्धि स्थूल हो गई है। एकान्तवास, इन्द्रियों को अल्प भोजन, मौन, ब्रह्मसूत्र एवं

उपनिषदों का अवलोकन-अध्ययन करके बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर, ब्रह्मवेत्ता गुरूओं की कृपा पचाकर, मृत्यु के आने से पूर्व अपनी अमरता का साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण 70 साल की उम्र में घोर अंगिरस ऋषि के आश्रम में एकान्त में वैराग्यपूर्ण जीवन जीने के लिए ठहरे थे। उपनिषदों के गहन अध्ययन एवं विरक्तता से सामर्थ्य एवं तेजस्विता बढ़ती है। श्रीकृष्ण ने 13 वर्ष विरक्तता में बिताये थे ऐसी कथा छांदोग्य उपनिषद में आती है।

रमण महर्षि ने भी अरूणाचलम् की एकान्त गुफा में कई वर्ष बिताये थे। वर्धमान महावीर बने और सिद्धार्थ गौतम बुद्ध बने उसके पीछे भी वर्षों का एकान्त, चिन्तन एवं मौन कारणभूत है।

आत्मराज्य में प्रवेश करना है ? भवबंधन से अपने को छुड़ाना है ? ....तो लग जाओ। आगे-पीछे की ज्यादा चिन्ता मत करो। बस, एक ईश्वर ही सत्य है। उसके लिए प्राण तक अर्पण करने की तत्परता होगी तो वह प्राणेश्वर आपके प्राण के बदले में कदम-कदम पर आपके साथ रहेंगे।

अन्य तुच्छ विचारो को आने ही न दो। 'बस, मुझे तो परमात्मप्राप्ति करना है.... करना है.... करना ही है।' दिन में पाँच-दस बार इन्हीं विचारों को घूँटते रहो। बल ही जीवन है। दुर्बलता ही मृत्यु है। दुर्बल विचार को निकाल दो। भूतकाल की गल्ती को फिर से न होने दो। उसे याद करके अपने को दुर्बल भी मत बनाओ।

रात्रि को सोते समय हमेशा ऊँचे स्वर में ॐकार का जप करके अपनी आत्मिक शांति का प्रभाव अपने रोम-रोम में भर दो। प्रभातकाल में वही उमदा विचार आपके चित्त में स्फुरित होगा। शांत भाव से अपने चैतन्यस्वरूप अन्तर्यामी ईश्वर को स्नेह करो। दिन में जो कुछ भी किया है उस पर मानसिक दृष्टिपात करो और साथ-ही-साथ भैया ! ऐसा सकल्प करो किः "आज जो कुछ भी करूँगा वह ईश्वर की प्राप्ति के लिए ही करूँगा। अहंकार बढ़ाने के लिए अथवा किसी को नीचा दिखाने के लिए अथवा मोह-माया के पाश में फँसने के लिए मेरी प्रवृत्ति नहीं होगी। प्रियतम को प्रसन्न करने के हेतु से ही परिवार की, कुटुम्बीजनों की, स्नेहीजनो की मैं सेव करूँगा। सुख लेने की नहीं, सुख देने की दृष्टि बनाऊँगा।'

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

सुख का स्रोत अपने आप में

बाधाएँ पैरों तले कुचलने की चीज है। प्रेम और आनन्द दिल से छलकाने की चीज है। हे प्रेमस्वरूप ! हे आनन्दस्वरूप ! हे सुखस्वरूप मानव ! सुख, प्रेम और आनन्द के लिए अपने को

बाहर भटका रहा है ? झुलसा रहा है ? खपा रहा है ? तपा रहा है ? ठहर.... रूक जा। अपने आपमें देख ! तू कितना मधुर है..... पवित्र है.... प्यारा है !

तू जब घर आता है तो कुत्ता तुझे देखकर प्यार करता है.... पूँछ हिलाता है..... स्नेह करता है। मक्खी और मच्छर को तुझसे रस मिलता है। तेरे स्नेहियों को तुझे देखकर रस मिलता है। ......और तू मारे रस के विषयों की, विकारों की आँधी में दर-दर की ठोकरें खा रहा है। अपने रसस्वरूप को जान..... अपने प्रेमस्वभाव को जान।

मधुर हरिकीर्तन के द्वारा, हरिध्यान के द्वारा अपने आनन्दस्वरूप को सँभाल। तू सुख का स्रोत है..... प्रेम का झरना है.... आनन्द का उदगमस्थान तू स्वयं है। उठ। हिम्मत कर। अपनी प्रियता जगा और बाँटना शुरू कर। अपना आनन्द, अपना आत्म-उल्हास, अपना स्वतंत्र सुख प्रकटाता जा, बिखेरता जा। सुख, प्रेम और मान का दाता बन, भिखारी मत बन। शाबाश वीर ! तेरा धर्म केवल मंदिर-मस्जिद में समाप्त नहीं होता। लेते देते, व्यवहार करते, मिलते-जुलते, खाते-पीते, सोते-जागते अपने असली धर्म को प्रकटाता जा। अनेकों में एक को निहारता जा। खण्डों में अपने अखण्ड आधार को पहचानता जा। तुझसे अमरता और सुख दूर नहीं।

हे मानव ! गोता मार। अपनी महिमा पहचान। अपने को पहचानने से तू तो निहाल हो ही जाएगा, तेरी मीठी निगाहों से दिशाएँ भी निहाल हो जाएँगी। अपने शीलस्वभाव को देख। **यह भी देख.... वह भी देख..... देखत-देखत ऐसा देख..... मिट जाय धोखा रह जाय एक।**

अपने स्वभाव को जानने के लिए कभी-कभी एकान्त और पवित्र जगह में पहुँच जा। कभी कमरे में अकेला बैठ, अपने आनन्द को जगा। अपनी प्रियता को जगा। ब्रह्मरस बाँटने वाले संतों के सान्निध्य में बैठ। सत्य में गोता मार। बाह्य सुख के पीछे जिन्दगी खप गई लेकिन वह नहीं मिला। अब तेरे सुख और आनन्दस्वभाव को पहचान। इतना ही पर्याप्त है। जल्दी कर... देर मत कर। देख, समय बीता जा रहा है।

पूज्यपाद संत श्री आसाराम जी बापू

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ